आगम अनुयोग प्रकाशन का १४वां पुष्प

☆ छेदसुत्ताणि—ववहारसुत्तं

☆ सम्पादक-विवेचक
मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'

☆ प्रकाशक
आगम अनुयोग प्रकाशन,
वाँकलीवास. पो० सांडेराव, जिला पाली (राजस्थान)

☆ मूल्य
वीस रुपया मात्र

☆ प्रथम मुद्रण
वीर निर्वाण संवत् २५०६
वि० सं० २०३७ आश्विन पूर्णिमा
ई० सन् १९८० अक्टूबर

☆ मुद्रक
श्रीचन्द सुराना के लिए
स्वस्तिक आर्ट प्रिण्टर्स, आगरा-२

व्यवहार/प्रायश्चित्त विशेषज्ञ

आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषिजी म०सा० के

पावन कर-कमलों में

—मुनि कन्हैयालाल 'कमल'

प्रकाशकीय

दो वर्ष पूर्व द्वितीय छेदसूत्र कप्पसुत्तं (बृहत्कल्पसूत्र) का प्रकाशन हुआ था। इससे पूर्व प्रथम आयारदसा (दशाश्रुतस्कंध) प्रकाशित हो चुका था, स्वाध्यायप्रेमियों ने इन दोनों छेदसूत्रों के स्वाध्याय से ज्ञानार्जन करके आत्म-शुद्धि तथा आत्मनिरीक्षण की प्रेरणा ग्रहण की हो तो यह प्रकाशन सफल माना जायेगा। अब ववहारसुत्तं (व्यवहारसूत्र) पाठकोंके स्वाध्यायार्थ प्रस्तुत है और णिसीह (निशीथ) सूत्र के शीघ्र ही प्रकाशनार्थ हम प्रयत्नशील हैं। कागज तथा मुद्रणादि सभी व्यय इतना बढ़ता जारहा है कि जिससे पुस्तक प्रकाशन करना और उसमें भी आगम-ग्रन्थों का प्रकाशन करना एक साहस भरा कार्य हो गया है, फिर भी आगम-प्रेमी उदार महानुभावों के सहयोग से इस कार्य में हम उत्साहपूर्वक आगे बढ़ रहे हैं।

कतिपय पाठक इन प्रकाशनों का अधिक मूल्य होने की शिकायत करते हैं; किन्तु मुद्रित प्रतियाँ अधिक संख्या में अधिक समय तक पड़ी रहती हैं, बिक्री बहुत धीमी होती है; प्राप्त अर्थ-सहयोग भी अपर्याप्त रहता है, कुछ प्रतियाँ भेंट देनी होती हैं, विक्रेताओं को कमीशन, विज्ञापन आदि का खर्च इत्यादि कई कारण हैं। आय और सहयोग के समन्वय से इन छेदसूत्रों का प्रकाशन हो रहा है, पाठक यदि ज्ञानवृद्धि के लिए कुछ अधिक व्यय करें तो इसमें प्रकाशन के अगले चरण को बल ही मिलता है।

निशीथसूत्र के प्रकाशन का भी दृढ़ संकल्प है, किन्तु पूर्व मुद्रित तीन छेदसूत्रों की अपेक्षा वह बहुत बड़ा है इसलिए उसके मुद्रण में पर्याप्त सहयोग होने पर ही सम्भव हो सकेगा।

आगमप्रेमी सज्जनों ने पिछले दोनों आगम ग्रन्थ पढ़कर उत्साह प्रदर्शित किया है, उन्हें इसमें काफी चिन्तन-मनन की सामग्री प्राप्त हुई है, इसलिए वे आगामी आगम प्रकाशनों की भी उत्सुकतावश प्रतीक्षा कर रहे हैं।

व्यवहार सूत्र के प्रस्तुत संस्करण का आकर्षक मुद्रण आदि श्रीचन्दजी सुराना के सत्प्रयत्नों से हुआ है। वर्ष भर में वे अनेक ग्रन्थों का सम्पादन संशोधन तथा मुद्रणादि कर लेते हैं. यह उनकी कार्य-कुशलता का प्रमाणपत्र है। आपने एक दो दशक में ही इतनी ख्याति अर्जित करली है कि सभी आपको ही प्रकाशन कार्य सौंप कर आश्वस्त हो जाते हैं। हमें प्रसन्नता है कि आगम-मुद्रण के गुरुतर दायित्व को स्वीकार कर उन्होंने हमारा कार्य बहुत सुगम कर दिया है। भविष्य में भी उनका सहयोग इसी प्रकार मिलता रहेगा। ऐसा विश्वास है।

उदारहृदयी श्री अजयराज जी किशनचन्द जी मेहता अहमदाबाद (नवरंगपुरा) निवासी के भी हम आभारी हैं कि जिन्होंने आयारदसा और कप्पसुत्त की सौ-सौ प्रतियाँ स्वाध्यायशील सज्जनों एवं ज्ञान भण्डारों को भेंट देकर हमें प्रोत्साहन दिया। आशा है इसी प्रकार समाज के आगमप्रेमी स्वाध्याय रसिक उदार सद्गृहस्थ ज्ञानोपार्जन में सहायक बनकर हमारा उत्साह बढ़ायेंगे

प्रबन्धक
आगम अनुयोग प्रकाशन
सांडेराव

विशेष सूचना

आगम अनुयोग प्रकाशन के सभी प्रकाशन नीचे लिखे पतों पर ही उपलब्ध होते हैं, अतः कृपया निम्न पते पर सम्पर्क करें—

श्री मनोहरकुमार ताराचन्द
पारेख महल, शोप नं० ६
एन० जे० रोड शिवाजी पार्क
माहिम, बम्बई ४०००२३
फोन नं० ४६१९८८

श्री हर्षद कुमार के० शाह
एल० डी० इन्स्टीट्यूट, नवरंगपुरा,
अहमदाबाद-९

आभार दर्शन

प्रस्तुत प्रकाशन में निम्न महानुभावों ने श्रद्धा तथा उदारतापूर्वक अर्थ सहयोग प्रदान कर प्रकाशन कार्य को सुगम बनाया है, एतदर्थ हम आपके आभारी हैं, तथा भविष्य में इसी प्रकार सहयोग का हाथ बढ़ाते रहें, यह आशा करते हैं।

१. आगम स्वाध्यायशील एक सद्‌गृहस्थ; बम्बई
२. श्री देशराजजी पूरणचंदजी जैन
   (मानसा, पंजाब) निवासी अहमदाबाद
३. श्री भोजराज जैन एण्ड कंपनी
   भटिंडा (पंजाब) निवासी; अहमदाबाद
४. श्रीमती चन्द्रकला बहन,
   C/O सम्पतराजजी बोहरा, अहमदाबाद।

प्रबन्धक
आगम अनुयोग प्रकाशन
सांडेराव

व्यवहार-नामकरण—

प्रस्तुत व्यवहार सूत्र तृतीय छेदसूत्र है[1]। इसके दस उद्देशक हैं। दसवें उद्देशक के अंतिम (पांचवें) सूत्र में पाँच व्यवहारों के नाम हैं[2]। इस सूत्र का नामकरण भी पाँच व्यवहारों को प्रमुख मानकर ही किया गया है।

व्यवहार-शब्द रचना—

वि+अव+हृ+घञ्। 'वि' और 'अव' ये दो उपसर्ग है। हृञ्—हरणे धातु है। 'हृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर हार बनता है। वि+अव+हार—इन तीनों से व्यवहार शब्द की रचना हुई है। 'वि'—विविधता या विधि का सूचक है। 'अव'—संदेह का सूचक है। 'हार'—हरण क्रिया का सूचक है। फलितार्थ यह है कि विवाद विषयक नाना प्रकार के संशयों का जिससे हरण होता है वह 'व्यवहार' है[3]। यह व्यवहार शब्द का विशेषार्थ है।

व्यवहार सूत्र के प्रमुख विषय—

१ व्यवहार, २ व्यवहारी और ३ व्यवहर्तव्य—ये तीन इस सूत्र के प्रमुख विषय हैं।

---

१. प्रथम छेदसूत्र दशा, (आयारदशा/दशाश्रुतस्कन्ध), द्वितीय छेदसूत्र कल्प (वृहत्कल्प) और तृतीय छेदसूत्र—व्यवहार। देखिए—सम०२६ सूत्र–२। अथवा उत्त० अ०३१, गा०१७।

२. भाष्यकार का मन्तव्य है—व्यवहार सूत्र के दसवें उद्देशक का पाँचवां सूत्र ही अन्तिम सूत्र है। पुरुषप्रकार से दसविधवैयावृत्य पर्यन्त जितने सूत्र हैं वे सब परिवर्धित हैं या चूलिकारूप है।

३. 'वि' नानार्थे 'ऽव' संदेहे, 'हरणं' हार उच्यते।
नाना संदेहहरणाद्, व्यवहार इति स्थितिः ॥—कात्यायन।
नाना विवाद विषयः संशयो ह्रियतेऽनेन इति व्यवहारः।

दसवें उद्देशक के अन्तिम सूत्र में प्रतिपादित पांच व्यवहार करण (साधन) हैं, गण की शुद्धि करने वाले गीतार्थ (आचार्यादि) व्यवहारी (व्यवहार क्रिया प्रवर्तक) कर्ता है[१], और श्रमण-श्रमणियाँ व्यवहर्तव्य (व्यवहार करने योग्य) हैं। अर्थात् इनकी अतिचार शुद्धिरूप क्रिया का सम्पादन व्यवहारज्ञ व्यवहार द्वारा करता है।

जिस प्रकार कुम्भकार (कर्ता), चक्र, दण्ड मृत्तिका सूत्र आदि करणों द्वारा कुम्भ (कर्म) का सम्पादन करता है—इसीप्रकार व्यवहारज्ञ व्यवहारों द्वारा व्यवहर्तव्यों (गण) की अतिचार शुद्धि का सम्पादन करता है[२]।

व्यवहार-व्याख्या—

व्यवहार की प्रमुख व्याख्यायें दो हैं। एक लौकिक व्याख्या और दूसरी लोकोत्तर व्याख्या।

लौकिक व्याख्या दो प्रकार की हैं—१ सामान्य और २ विशेष। सामान्य व्याख्या है—दूसरे के साथ किया जाने वाला आचरण अथवा रुपये-पैसों का लेन-देन[3]।

विशेष व्याख्या है—अभियोग की समस्त प्रक्रिया अर्थात् न्याय। इस विशिष्ट व्याख्या से सम्बन्धित कुछ शब्द प्रचलित हैं। जिनका प्रयोग वैदिक परम्परा की श्रुतियों एवं स्मृतियों में चिरन्तन काल से चला आ रहा है[४]। यथा—

१. **व्यवहारशास्त्र**—(दण्ड संहिता) जिसमें राज्य-शासन द्वारा किसी विशेष विषय में सामूहिक रूप से बनाये गये नियमों के निर्णय और नियमों का भंग करने पर दिये जाने वाले दण्डों का विधान व विवेचन होता है।

---

१. चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—
गणसोहिकरे नामं एगे नो माणकरे।....
—व्यव० पुरुषप्रकार सूत्र १० पृ० १०१।

२. गाहा—ववहारी खलु कत्ता, ववहारो होई करणभूतो उ।
ववहरियव्वं कज्जं, कुंभादि तियस्स जह सिद्धी।।
—व्यव० भाष्यपीठिका गाथा २।

३. न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं, न कश्चित् कस्यचिद् रिपुः।
व्यवहारेण जायन्ते, मित्राणि रिपवस्तथा।। —हितो० मि० ७२।

४. परस्परं मनुस्याणां, स्वार्थविप्रतिपत्तिषु।
वाक्यान्न्यायाद् व्यवस्थानं, व्यवहार उदाहृतः।।—मिताक्षरा।

२. व्यवहारज्ञ—(न्यायाधीश) जो व्यवहार शास्त्र का ज्ञाता होता है वही किसी अभियोग आदि पर विवेकपूर्वक विचार करनेवाला एवं दण्डनिर्णायक होता है।

लोकोत्तर व्याख्या भी दो प्रकार की है—१ सामान्य और २ विशेष। सामान्य व्याख्या है—एक गण का दूसरे गण के साथ किया जाने वाला आचरण। अथवा एक श्रमण का दूसरे श्रमण के साथ, एक आचार्य, उपाध्याय आदि का दूसरे आचार्य, उपाध्याय आदि के साथ किया जाने वाला आचरण।

विशेष व्याख्या है—सर्वज्ञोक्त विधि से तप प्रभृति अनुष्ठानों का "वपन" याने बोना और उससे अतिचारजन्य पाप का हरण करना····व्यवहार है[1]।

'विवाप' शब्द के स्थान में 'व्यव' आदेश करके 'हार' शब्द के साथ संयुक्त करने पर व्यवहार शब्द की सृष्टि होती है—यह भाष्यकार का निर्देश है[2]।

व्यवहार के भेद-प्रभेद—

व्यवहार दो प्रकार का है—१ विधि व्यवहार और २ अविधि व्यवहार। अविधि व्यवहार मोक्ष-विरोधी है इसलिए इस सूत्र का विषय नहीं है, अपितु विधि व्यवहार ही इसका विषय है[3]।

व्यवहार चार प्रकार के हैं—१ नामव्यवहार २ स्थापनाव्यवहार, ३ द्रव्यव्यवहार और ४ भावव्यवहार।

१ नामव्यवहार—किसी व्यक्ति विशेष का 'व्यवहार' नाम होना।

२ स्थापनाव्यवहार—व्यवहार नाम वाले व्यक्ति की सत् या असत् प्रतिकृति।

३ द्रव्यव्यवहार के दो भेद हैं—आगम से और नोआगम से।

आगम से— अनुपयुक्त (उपयोगरहित) व्यवहार पद का ज्ञाता।

नोआगम से—द्रव्यव्यवहार तीन प्रकार का है— १ज्ञशरीर, २ भव्यशरीर और ३ तद्व्यतिरिक्त।

ज्ञशरीर—व्यवहार पद के ज्ञाता का मृतशरीर।

भव्यशरीर—व्यवहार पद के ज्ञाता का भावीशरीर।

---

१. व्यव० भाष्य० पीठिका गा० ४।
२. व्यव० भाष्य० पीठिका गा० ४।
३. व्यव० भाष्य पीठिका गाथा६।

तद्व्यतिरिक्त द्रव्यव्यवहार—व्यवहार श्रुत का पुस्तक। यह तीन प्रकार का है—१ लौकिक, २ लौकोत्तर और ३ कुप्रावचनिक।

लौकिक द्रव्य व्यवहार का विकासक्रम—

मानव का विकास भोगभूमि से प्रारम्भ हुआ था। उस आदिकाल में भी पुरुष पति रूप में और स्त्री पत्नी रूप में ही रहते थे, किन्तु दोनों में काम-वासना अत्यन्त सीमित थी। सारे जीवन में उनके केवल दो सन्तानें (एक साथ) होती थी। उनमें भी एक बालक और एक बालिका ही। "हम दो हमारे दो" उनके सांसारिक जीवन का यही सूत्र था। वे भाई-बहिन ही युवावस्था में पति-पत्नी रूप में रहने लगते थे।

उनके जीवन निर्वाह के साधन थे कल्पवृक्ष। सोना-बैठना, उनकी छाया में, खाना फल, पीना वृक्षों का मदजल। पहनते थे वल्कल और सुनते थे वृक्ष-वाद्य प्रतिपल। न वे काम-धन्धा करते थे, न उन्हें किसी प्रकार की कोई चिन्ता थी, अतः वे दीर्घजीवी एवं अत्यन्त सुखी थे। न वे करते थे धर्म, न वे करते थे पापकर्म, न था कोई वक्ता, न था कोई श्रोता, न थे वे उद्दण्ड, न उन्हें कोई देता था दण्ड, न था कोई शासक, न थे वे शासित। ऐसा था युगलजन जीवन।

काल चक्र चल रहा था। भोगभूमि कर्मभूमि में परिणत होने लगी थी। जीवन-यापन के साधन कल्पवृक्ष विलीन होने लगे थे। खाने-पीने और सोने-बैठने की समस्यायें सताने लगी थी। क्या खायें-पीयें? कहाँ रहे, कहाँ सोयें? ऊपर आकाश था, नीचे धरती थी। शरदी, गर्मी और वर्षा से बचें तो कैसे बचें?—इत्यादि अनेक चिन्ताओं ने मानव को घेर लिया था। खाने-पीने के लिये छीना-झपटी चलने लगी। अकाल मृत्युएँ होने लगीं और जोड़े (पति-पत्नी) का जीवन बेजोड़ होने लगा।

प्रथम सुषम-सुषमाकाल और द्वितीय सुषमाकाल समाप्त हो गया था। तृतीय सुषमा-दुषमाकाल के दो विभाग भी समाप्त हो गये थे। तृतीय विभाग का दुश्चक्र चल रहा था। यह था संक्रमण-काल।

सुख, शान्ति एवं व्यवस्था के लिए सर्वप्रथम प्रथम पांच कुलकरों ने अपराधियों को 'हत्'—इस वाग्दण्ड से प्रताड़ित किया, पर कुछ समय बाद यह दण्ड प्रभावहीन हो गया। दण्ड की दमन नीति का यह प्रथम सूत्र था। मानव हृदय में हिंसा के प्रत्यारोपण का युग यहीं से प्रारम्भ हुआ।

द्वितीय पांच कुलकरों ने आततायियों को "मत" इस वाग्दण्ड से प्रताड़ित

कर प्रभावित किया, किन्तु यह दण्ड भी समय के सोपान पार करता हुआ प्रभावहीन हो गया।

तृतीय पाँच कुलकरों ने अशान्ति फैलाने वालों को "धिक्" इस वाग्दण्ड से शासित कर निग्रह किया। यद्यपि दण्डनीय के ये तीनों दण्ड वाग्दण्ड मात्र थे, पर हिंसा के पर्यायवाची दण्ड ने मानव को कोमल न बनाकर क्रूर बनाया, दयालु न बनाकर दुष्ट बनाया। प्रथमकुलकर का नाम यद्यपि "सुमति" था। मानव की सुख-समृद्धि के लिये उसे "शमन" का उपयोग करना था पर काल के कुटिल कुचक्रों से प्रभावित होकर उसने भी "दमन" का दुश्चक्र चलाया।

अन्तिम कुलकर श्री ऋषभदेव थे। धिक्कार की दण्डनीति भी असफल होने लगी तो भगवान ऋषभदेव (आदिनाथ) के श्रीमुख से कर्म त्रिपदी "१ असि, २ मसि, ३ कृषि" प्रस्फुरित हुई। मानव के सामाजिक जीवन का सूर्योदय हुआ। मानव समाज दो वर्गों में विभक्त हो गया। एक वर्ग शासकों का और एक वर्ग शासितों का। अल्पसंख्यक शासक वर्ग बहुसंख्यक शासित वर्ग पर अनुशासन करने लगा।

भगवान आदिनाथ के सुपुत्र भरत चक्रवर्ती बने। पूर्वजों से विरासत में मिली दमननीति का प्रयोग वे अपने भाइयों पर भी करने लगे। उपशमरस के आदिश्रोत भ० आदिनाथ (ऋषभदेव) ने बाहुबली आदि को शास्वत (आध्यात्मिक) साम्राज्य के लिये प्रोत्साहित किया तो वे मान गये। क्योंकि उस युग के मानव 'ऋजुजड़' प्रकृति के थे।

अहिंसा की अमोघ अमी धारा से भाइयों के हृदय में प्रज्वलित राज्य-लिप्सा की लोभाग्नि सर्वथा शान्त हो गई।

भ० अजितनाथ से लेकर भ० पार्श्वनाथ पर्यन्त 'ऋजुप्राज्ञ' मानवों का युग रहा। ग्यारह चक्रवर्ती, नो बलदेव, नौ वासुदेव और नौ प्रतिवासुदेवों के शासन में दण्डनीति का इतना दमन चक्र चला कि सौम्य शमननीति को लोग प्रायः भूल गये। दाम—प्रलोभन दण्ड और भेद—इन तीन नीतियों का ही सर्व साधारण में अधिकाधिक प्रचार-प्रसार होता रहा।

अब आया "वक्रजड़" मानवों का युग। मानव के हृदयपटल पर वक्रता और जड़ता का साम्राज्य छा गया। सामाजिक व्यवस्था के लिये दण्ड (दमन) अनिवार्य मान लिया गया। अंग-भंग और प्राणदण्ड सामान्य हो गये। दण्ड-संहितायें बनी, दण्ड-यन्त्र बने। दण्ड न्यायालय और दण्ड विज्ञान भी विकसित हुआ। आग्नेयास्त्र आदि अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों ने अतीत में और वर्त-

मान में अणुवम आदि अनेक अस्त्रों द्वारा नृशंस दण्ड से दमन का प्रयोग होता रहा है।

पौराणिक साहित्य में एक दण्डपाणि (यमराज) का वर्णन है पर आज तो यत्र तत्र सर्वत्र अनेकानेक दण्डपाणि ही चलते फिरते दिखाई देते हैं। यह लौकिक द्रव्य व्यवहार है।

लोकोत्तर द्रव्यव्यवहार :—आचार्यादि की उपेक्षा करनेवाले स्वच्छन्द श्रमणों का अन्य स्वच्छन्द श्रमणों के साथ अशनादि आदान-प्रदान का पारस्परिक व्यवहार।

लोकोत्तर भावव्यवहार :—यह दो प्रकार का है ? आगम से और २ नो आगम से। आगम से—उपयोगयुक्त व्यहार पद के अर्थ का ज्ञाता[1]। नो आगम से पांच प्रकार के व्यवहार हैं—

१. आगम, २. श्रुत, ३. आज्ञा, ४. धारणा, ५. जीत।

१. जहां आगम हो वहां आगम से व्यवहार की प्रस्थापना करें।

२. जहां आगम न हो, श्रुत हो, वहां श्रुत से व्यवहार की प्रस्थापना करें।

३. जहां श्रुत न हो, आज्ञा हो, वहां आज्ञा से व्यवहार की प्रस्थापना करें।

४. जहां आज्ञा न हो, धारणा हो, वहां धारणा से व्यवहार की प्रस्थापना करें।

५. जहां धारणा न हो, जीत हो, वहां जीत से व्यवहार की प्रस्थापना करें।

इन पांचों से व्यवहार की प्रस्थापना करें—१. आगम, २. श्रुत, ३. आज्ञा, ४. धारणा और ५. जीत से।

इनमें से जहां-जहां जो हो वहां वहां उसी से व्यवहार की प्रस्थापना करें।

प्र० भंते ! आगमबलिक श्रमण निर्ग्रन्थों ने (इन पांच व्यवहारों के सम्बन्ध में) क्या कहा है ?

उ०—(आयुष्मान् श्रमणो) इन पांचों व्यवहारों में से जब-जब जिस-जिस विषय में जो व्यवहार हो तब-तब उस उस विषय में अनिश्रितोपाश्रित—

---

१. आगमतो व्यवहारपदार्थज्ञाता तत्र चोपयुक्त 'उपयोगो भाव निक्षेप' इति वचनात्। —व्यव० भा० पीठिका गाथा ६

(मध्यस्थ) रहकर सम्यक् व्यवहार करता हुआ श्रमण-निर्ग्रन्थ आज्ञा का आराधक होता है[1]।

आगम व्यवहार :—

केवलज्ञानियों, मनःपर्यवज्ञानियों और अवधिज्ञानियों द्वारा आचरित या प्ररूपित विधि-निषेध आगम व्यवहार है।

नव पूर्व, दश पूर्व और चौदहपूर्वधारियों द्वारा आचरित या प्ररूपित विधि-निषेध भी आगम व्यवहार ही है।[2]

श्रुतव्यवहार—

आठ पूर्व पूर्ण और नवम पूर्व अपूर्णधारी द्वारा आचरित या प्रतिपादित विधि-निषेध भी श्रुतव्यवहार है। दशा (आयारदशा-दशाश्रुतस्कन्ध), कल्प (बृहत्कल्प), व्यवहार, आचारप्रकल्प (निशीथ) आदि छेदश्रुत (शास्त्र) द्वारा निर्दिष्ट विधि-निषेध भी श्रुतव्यवहार है।

आज्ञाव्यवहार—

दो गीतार्थ श्रमण एक दूसरे से अलग दूर देशों में विहार कर रहे हों और निकट भविष्य में मिलने की सम्भावना न हो। उनमें से किसी एक को कल्पिका प्रतिसेवना का प्रायश्चित्त लेना हो तो अपने अतिचार दोष कहकर गीतार्थ शिष्य को भेजे। यदि गीतार्थ शिष्य न हो तो धारणाकुशल अगीतार्थ शिष्य को सांकेतिक भाषा में अपने अतिचार कहकर दूरस्थ गीतार्थ मुनि के

---

१. ठाणं-५. उ० २ सू० ४२१ / तथा भग० श० ८. उ० ८. सू० ८.९।

२. आगम व्यवहार की कल्पना से तीन भेद किये जा सकते हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य।

१–केवलज्ञानियों द्वारा आचरित या प्ररूपित विधि-निषेधपूर्ण उत्कृष्ट आगम व्यवहार है, क्योंकि केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

२–मनःपर्यवज्ञान और अवधिज्ञान यद्यपि विकल (देश) प्रत्यक्ष है फिर भी ये दोनों ज्ञान आत्म-सापेक्ष हैं, इसलिये मनःपर्यवज्ञानियों या अवधिज्ञानियों द्वारा आचरित या प्ररूपित विधि-निषेध (मध्यम) आगम व्यवहार है।

३–चौदह पूर्व, दशपूर्व और नवपूर्व (सम्पूर्ण) यद्यपि विशिष्ट श्रुत है, फिर भी परोक्ष है, अतः इनके धारक द्वारा प्ररूपित या आचरित विधि-निषेध भी आगम व्यवहार है, किन्तु यह जघन्य आगम व्यवहार है।

पास भेजे और उस शिष्य के द्वारा कही गई आलोचना सुनकर वह गीतार्थ मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, संहनन, धैर्य, बल आदि का विचार कर स्वयं वहाँ आवे और प्रायश्चित्त दे। अथवा गीतार्थ शिष्य को समझाकर भेजे। यदि गीतार्थ शिष्य न हो तो आलोचना का सन्देश लाने वाले के साथ ही सांकेतिक भाषाओं में अतिचार शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का संदेश भेजे—यह आज्ञाव्यवहार है।[1]

धारणा व्यवहार—

किसी गीतार्थ श्रमण ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से जिस अतिचार का जो प्रायश्चित्त दिया है उसकी धारणा करके जो श्रमण उसी प्रकार के अतिचार सेवन करने वाले को धारणानुसार प्रायश्चित्त देता है, वह धारणा व्यवहार है। अथवा—वैयावृत्य अर्थात् सेवाकार्यों से जिस श्रमण ने गण का उपकार किया है वह यदि छेद श्रुत न सीख सके तो गुरु महाराज उसे कतिपय प्रायश्चित्त पदों की धारणा कराते हैं—यह भी धारणा व्यवहार है।

जीत व्यवहार—

स्थिति, कल्प, मर्यादा और व्यवस्था—ये 'जीत' के पर्यायवाची हैं।

गीतार्थ द्वारा प्रवर्तित शुद्ध व्यवहार जीत व्यवहार है।

श्रुतोक्त प्रायश्चित्त से हीन या अधिक किन्तु परम्परा से आचरित प्रायश्चित्त देना जीत व्यवहार है।

सूत्रोक्त कारणों के अतिरिक्त कारण उपस्थित होने पर जो अतिचार लगे हैं उनका प्रवर्तित प्रायश्चित्त अनेक गीतार्थों द्वारा आचरित हो तो वह भी जीत व्यवहार है।

अनेक गीतार्थों द्वारा निर्धारित एवं सर्वसम्मत विधि-निषेध भी जीत व्यवहार है।[2]

---

१. सो ववहार विहण्णू, अणुमज्जित्ता सुत्तोवएसेणं।
सीसस्स देइ अप्पं, तस्स इमं देहि पच्छित्तं॥

—व्यव० भा० उ० १० गा० ६६१।

२. किं पुण गुणोवएसो ववहारस्स, उ चिउ पसत्थस्स।
एसो भे परिकहिओ, दुवालसंगस्स णवणीयं॥

—व्यव० उ० १० भाष्य गाथा ७२४।

जं जीतं सावज्जं, न तेण जीएण होइ ववहारो।
जं जीयमसावज्जं, तेण उ जीएण ववहारो॥

—व्यव० उ० १० भाष्य गाथा ७१५।

व्यवहार पंचक के क्रम भंग का प्रायश्चित—

आगम व्यवहार के होते हुये यदि कोई श्रुतव्यवहार का प्रयोग करता है तो चार गुरु के प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

इसी प्रकार श्रुतव्यवहार के होते हुये आज्ञाव्यवहार का प्रयोगकर्ता, आज्ञाव्यवहार के होते हुये धारणाव्यवहार का प्रयोगकर्त्ता तथा धारणाव्यवहार के होते हुये जीत व्यवहार का प्रयोगकर्त्ता चार गुरु के प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

व्यवहारपंचक का प्रयोग पूर्वानुपूर्वीक्रम से अर्थात् अनुक्रम से ही हो सकता है किन्तु पश्चानुपूर्वीक्रम से अर्थात् विपरीत क्रम से प्रयोग करना सर्वथा निषिद्ध है।

आगमव्यवहारी आगम व्यवहार से ही व्यवहार करते हैं; अन्यश्रुतादि व्यवहारों से नहीं—क्योंकि जिस समय सूर्य का प्रकाश हो उस समय दीपक के प्रकाश की आवश्यकता नहीं रहती।

जीतव्यवहार तीर्थ (जहाँ तक चतुर्विध संघ रहता है वहाँ तक) पर्यन्त रहता है। अन्य व्यवहार विच्छिन्न हो जाते हैं[1]।

कुप्रावचनिक व्यवहार—

अनाज में, रस में, फल में; और फूल में होने वाले जीवों की हिंसा हो जावे तो घी चाटने से शुद्धि हो जाती है।[2]

जं जस्स पच्छित्तं, आयरियपरंपराए अविरुद्धं।
जोगा य वहु विगप्पा, एसो खलु जीतकप्पो॥
—व्यव० भाष्य पीठिका गाथा १२।

जं जीयमसोहिकरं, पासत्थ-पमत्त-संजयाईण्णं।
जइ वि महाजणाइन्नं, न तेण जीएण ववहारो॥
जं जीयं सोहिकरं, संवेगपरायणेन दत्तेण।
एगेण वि आइण्णं, तेण उ जीएण ववहारो॥
—व्यव० उ० १० भाष्य गाथा ७२०। ७२१।

१. गाहा—सुत्तमणागयविसयं, खेत्तं कालं च पप्प ववहारो।
होहिंति न आइल्ला, जा तित्थं ताव जीतो उ॥
—व्यव० १० भाष्य गाथा ५५।

२. अन्नाद्यजानां सत्त्वानां, रसजानां च सर्वशः।
फलपुष्पोद्भवानां च, घृतप्राशो विशोधनम्॥
—मनु० अ० ११/१४३।

कपास, रेशम, ऊन, एकखुर और दोखुरवाले पशु, पक्षी, सुगन्धित पदार्थ, औषधियाँ और रज्जु आदि की चोरी करे तो तीन दिन दूध पीने से शुद्धि हो जाती है।[1]

ऋग्वेद धारण करने वाला विप्र तीनों लोक को मारे या कहीं भी भोजन करे तो उसे किसी प्रकार का पाप नहीं लगता है।[2]

ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि तप करना, वर्षा ऋतु में वर्षा बरसते समय बिना छाया के बैठना और शरद ऋतु में गीले वस्त्र पहने रहना—इस प्रकार क्रमशः तप बढ़ाना चाहिये।[3]

व्यवहारी—

व्यवहारज्ञ, व्यवहारी, व्यवहर्ता—ये समानार्थक हैं।

जो प्रियधर्मी हो, दृढ़धर्मी हो, वैराग्यवान हो, पापभीरू हो, सूत्रार्थ का ज्ञाता हो और राग-द्वेष रहित (पक्षपातरहित) हो वह व्यवहारी होता है।[4]

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अतिचारसेवी पुरुष और प्रतिसेवना का चिन्तन करके यदि किसी को अतिचार के अनुरूप आगमविहित प्रायश्चित देता है, तो व्यवहारज्ञ (प्रायश्चित्त दाता) आराधक होता है।

द्रव्य, क्षेत्र आदि का चिन्तन किये बिना राग-द्वेषपूर्वक हीनाधिक

---

१. कार्पासकीटजीर्णानां, द्विशफैकशफस्य च।
पक्षिगन्धौषधीनां च, रज्ज्वाश्चैव त्र्यहं पयः॥ —मनु० अ० ११/१६।

२. हत्वा लोकानपीमांस्त्री, नश्यन्नपि यतस्ततः।
ऋग्वेदं धारयन्विप्रो, नैनः प्राप्नोति किञ्चन॥ —मनु० अ० ११/२६१।

३. ग्रीष्मे पञ्चतपास्तुस्याद्वर्षा स्वभ्रावकाशिकः।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते, क्रमशो वर्धयस्तपः॥ —मनु० अ०६/२३।

४. क—पियधम्मा दढधम्मा, संविग्गा चेव वज्जभीरू अ।
सुत्तत्थ तदुभयविऊ, अणिस्सिय ववहारकारी य॥
—व्यव० भाष्य पीठिका गाथा १४।

ख—१ आचारवान्, २ आधारवान्, ३ व्यवहारवान्, ४ अपव्रीडक ५ प्रकारी, ६ अपरिश्रावी, ७ निर्यापक, ८ अपायदर्शी, ९ प्रियधर्मी, १० दृढधर्मी। —ठाणं० १०, सू० ७३३।

ग—व्यव० उ० १० भाष्य गाथा २४३। २४५। २४६। २४७। २९८। ३००।

प्रायश्चित्त देता है वह व्यवहारज्ञ (प्रायश्चित दाता) विराधक होता है।[1]

व्यवहर्तव्य—

व्यवहर्तव्य/व्यवहार करने योग्य निर्ग्रन्थ हैं। ये अनेक प्रकार के हैं।

निर्ग्रन्थ चार प्रकार के हैं—

१ एकरात्निक[2] होता है किन्तु भारीकर्मा होता है। अतः वह धर्म का अनाराधक होता है।

२ एकरात्निक होता है और हलुकर्मा होता है अतः वह धर्म का अनाराधक होता है।

३ एक अवमरात्निक[3] होता है और भारीकर्मा होता है अतः वह धर्म का अनाराधक होता है।

४ एक अवमरात्निक होता है किन्तु हलुकर्मा होता है अतः वह धर्म का आराधक होता है।

इसी प्रकार निर्ग्रन्थियाँ भी चार प्रकार की होती हैं।[4]

निर्ग्रन्थ पांच प्रकार के हैं—

१ पुलाक—जिसका संयमी जीवन भूसे के समान साररहित होता है। यद्यपि तत्त्व में श्रद्धा रखता है, क्रियानुष्ठान भी करता है, किन्तु तपानुष्ठान से प्राप्त लब्धि का उपयोग भी करता है और ज्ञानातिचार लगे—ऐसा वर्तन-व्यवहार रखता है।

२ वकुश—ये दो प्रकार के होते हैं—उपकरणवकुश और शरीरवकुश।

जो उपकरणों को एवं शरीर को सजाने में लगा रहता है और ऋद्धि तथा यश का इच्छुक रहता है। छेद प्रायश्चित योग्य अतिचारों का सेवन करता है।

---

१. गाहा—जो सुयमहिज्जइ, बहुं सुत्तत्थं च निउणं विजाणाइ।
कप्पे ववहारंमि य, सो उ पमाणं सुयहराणं॥
कप्पस्स य निज्जुत्ति ववहारस्स व परमनिउणस्स।
जो अत्थतो वियाणइ, ववहारी सो अणुण्णातो।
—व्यव० उ० १० भाष्य गाथा ६०५। ६०७।

२. जो दीक्षा पर्याय में बड़ा हो।

३. जो दीक्षा पर्याय में छोटा हो।

४. ठाणं० ४० उ०३ सूत्र ३२०।

३ कुशील—यह दो प्रकार का है—१ प्रतिसेवनाकुशील और २ कषाय-कुशील।

प्रतिसेवनाकुशील—जो पिण्डशुद्धि आदि उत्तर गुणों में अतिचार लगाते हैं।

कषायकुशील—जो यदा कदा संज्वलन कषाय के उदय से स्वभाव दशा में स्थिर नहीं रह पाता।

४ निर्ग्रन्थ—उपशान्तमोह निर्ग्रन्थ।

५ स्नातक—सयोगीकेवली और अयोगीकेवली।

इन पाँच निर्ग्रन्थों के अनेक भेद-प्रभेद हैं। ये सब व्यवहार्य है।

जब तक प्रथम संहनन और चौदह पूर्व का ज्ञान रहा तब तक पूर्वोक्त दस प्रायश्चित्त दिये जाते थे। इनके विच्छिन्न होने पर अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त भी विच्छन्न हो गये—अर्थात् ये दोनों प्रायश्चित्त अब नहीं दिये जाते हैं। शेष आठ प्रायश्चित्त तीर्थ (चतुर्विधसंघ) पर्यन्त दिये जायेंगे।

पुलाक को व्युत्सर्गपर्यन्त छह प्रायश्चित्त दिये जाते थे।

प्रतिसेवक वकुश और प्रतिसेवनाकुशील को दसों प्रायश्चित्त दिये जाते हैं। स्थविरों को अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त नहीं दिये जाते; शेष आठ प्रायश्चित्त दिये जाते है।

निर्ग्रन्थ को केवल दो प्रायश्चित्त दिये जा सकते हैं—१ आलोचना, २ विवेक।

स्नातक केवल एक प्रायश्चित्त लेता है--विवेक। उन्हें कोई प्रायश्चित्त देता नहीं है।[1]

१ सामायिकचारित्र वाले को छेद और मूल रहित आठ प्रायश्चित्त दिये जाते हैं।

२ छेदोपस्थापनीयचारित्र वाले को दसों प्रायश्चित्त दिये जाते हैं।

३ परिहारविशुद्धि चारित्रवाले को मूलपर्यन्त आठ प्रायश्चित्त दिये जाते हैं।

---

१. गाहा—आलोयणपडिक्कमणे, मीस-विवेगे तहेव विउस्सग्गे।
एए छ पच्छित्ता, पुलागनियंठाय बोधव्वा॥
वउसपडिसेवगाणं, पायच्छिन्ना हवंति सव्वे वि।
भवे कप्पे, जिणकप्पे अट्ठहा होंति॥
आलोयणा विवेगो य, नियंठस्स दुवे भवे।
विवेगो य सिणायस्स, एमेया पडिवत्तितो॥
—व्यव० १० भाष्य गाथा ३५७, ५८, ५९

४ सूक्ष्मसंपरायचारित्र वाले को तथा ५ यथाख्यातचारित्रवाले को केवल दो प्रायश्चित्त दिये जाते हैं—१ आलोचना और २ विवेक। ये सब व्यवहार्य हैं।[1]

व्यवहार के प्रयोग—

व्यवहारज्ञ जब उक्त व्यवहार पंचक में से किसी एक व्यवहार का किसी एक व्यवहर्तव्य (व्यवहार करने योग्य श्रमण या श्रमणी) के साथ प्रयोग करता है तो विधि के निषेधक को या निषेध के विधायक को प्रायश्चित्त देता है तब व्यवहार शब्द प्रायश्चित्त रूप तप का पर्यायवाचि हो जाता है। अतः यहाँ प्रायश्चित्त रूप तप का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

१ गुरुक, २ लघुक, ३ लघुस्वक।

गुरुक के तीन भेद—

१ गुरुक, २ गुरुतरक और ३ यथागुरुक।

लघु के तीन भेद—

१ लघुक, २ लघुतरक और यथालघुक।

लघुस्वक के तीन भेद—

१ लघुस्वक, २ लघुस्वतरक और ३ यथालघुस्वक।

गुरु प्रायश्चित्त महा प्रायश्चित्त होता है उसकी अनुद्घातिक संज्ञा है इस प्रायश्चित्त के जितने दिन निश्चित हैं और जितना तप निर्धारित है वह तप उतने ही दिनों में पूरा करना होता है। यह तप दर्पिकाप्रतिसेवना वालों को ही दिया जाता है।

गुरुक व्यवहार : प्रायश्चित्त तप—

१ गुरु प्रायश्चित्त—एक मास पर्यन्त अट्ठम[2] तेला (तीन दिन उपवास)

---

१. सामाइयसंजयाणं, पायच्छित्ता, छेद-मूलरहियट्ठा।
थेराणं जिणाणं पुण, मूलत अट्ठहा होइ॥
परिहार विसुद्धीए, मूलं ता अट्ठाति पच्छित्ता।
थेराणं जिणाणं पुण, जव्विहं छेयादिवज्जं वा॥
आलोयणा-विवेगो य तइयं तु न विज्जती।
सुहुमेय संपराए, अहक्खाए तहेव य॥
—व्यव० उ० १० भाष्य गाथा ३६१-६२-६३-६४।

२. एक मास में आठ अट्ठम होते हैं—इनमें चौवीस दिन तपश्चर्या के और आठ दिन पारणा के। अन्तिम पारणे का दिन यदि छोड़ दें तो एक मास (इकतीस दिन) गुरु प्रायश्चित्त का होता है।

२ गुरुतर प्रायश्चित्त—चार मास पर्यन्त दशम[1]—चोला (चार दिन का उपवास)

३ गुरुतर प्रायश्चित्त—छह मास पर्यन्त द्वादशम[2]—पचोला (पाँच दिन का उपवास)

लघुक व्यवहार/प्रायश्चित्त तप—

१ लघु प्रायश्चित्त—तीस दिन पर्यन्त छट्ठ–वेला (दो उपवास)

२ लघुतर प्रायश्चित्त—पचीस दिन पर्यन्त चउत्थ[4]–उपवास।

३ यथालघु प्रायश्चित्त—वीस दिन पर्यन्त–आचाम्ल।[5]

१ लघुस्वक प्रायश्चित्त—पन्द्रह दिन पर्यन्त एक स्थानक[6]–(एगलठाणो)

२ लघुस्वतरक प्रायश्चित्त—दस दिन पर्यन्त–पूर्वार्ध[7] (दो पोरसी)

३ यथालघुस्वक प्रायश्चित्त—पाँच दिन पर्यन्त–निर्विकृतिक[8] (विकृतिरहित आहार)[9]

गुरु प्रायश्चित्त तप के तीन विभाग—

१ जघन्य, २ मध्यम और ३ उत्कृष्ट।

१ जघन्य गुरु प्रायश्चित्त—एक मासिक और द्वैमासिक।

---

१. एक मास में छह दसम होते हैं—इनमें चौवीस दिन तपश्चर्या के और छ दिन पारणे के—इस प्रकार एक मास (तीस दिन) गुरु प्रायश्चित्त का होता है।

२. एक मास में पांच द्वादशम होते हैं—इनमें पचीस दिन तपश्चर्या के और पांच दिन पारणे के इस प्रकार एक मास (तीस दिन) गुरु प्रायश्चित्त का होता है।

३. तीस दिन में दस छट्ठ होते हैं—इनमें वीस दिन तपश्चर्या के और दस दिन पारणे के होते हैं।

४. पचीस दिन में तेरह उपवास होते हैं—इनमें तेरह दिन तपश्चर्या के और बारह दिन पारणे के। अन्तिम पारणे का दिन यहाँ नहीं गिना है।

५. वीस दिन में दस आचाम्ल होते हैं—इनमें दस दिन तपश्चर्या के और दस दिन पारणे के होते हैं।

६. पन्द्रह दिन एक स्थानक निरन्तर किये जाते हैं।

७. दस दिन पूर्वार्ध निरन्तर किये जाते हैं।

८. पाँच दिन निर्विकृतिक आहार निरन्तर किया जाता है।

९. बृह० उद्दे० ५ भाष्य गाथा ६०३९-६०४४।

२ मध्यम गुरु प्रायश्चित्त—त्रैमासिक और चातुर्मासिक।

३ उत्कृष्ट गुरु प्रायश्चित्त—पांचमासिक और षाण्मासिक,

जघन्य गुरु प्रायश्चित्त तप है—एक मास या दो मासपर्यन्त निरन्तर अट्ठम तप करना।

मध्यम गुरु प्रायश्चित्त तप है—तीन मास या चार मास पर्यन्त निरन्तर दशम तप करना

उत्कृष्ट गुरु प्रायश्चित्त तप है—पाँच मास या छह मास पर्यन्त निरन्तर द्वादशम तप करना।

इसी प्रकार लघु प्रायश्चित्त तप के और लघुस्वक तप के भी तीन-तीन विभाग हैं। तथा तप की आराधना भी पूर्वोक्त मास क्रम से ही की जाती है।

उत्कृष्ट गुरु प्रायश्चित्त के तीन विभाग—

१ उत्कृष्ट-उत्कृष्ट, २ उत्कृष्ट-मध्यम, ३ उत्कृष्ट-जघन्य।

१ उत्कृष्ट-उत्कृष्ट गुरु प्रायश्चित्त—पाँच मास या छह मास पर्यन्त निरन्तर द्वादशम तप करना।

२ उत्कृष्ट-मध्यम गुरु प्रायश्चित्त—तीन मास या चार मास पर्यन्त निरन्तर द्वादशम तप करना।

३ उत्कृष्ट-जघन्य गुरु प्रायश्चित्त—एक मास या दो मास पर्यन्त निरन्तर द्वादशम तप करना।

इसी प्रकार मध्यम गुरु प्रायश्चित्त के तीन विभाग और जघन्य गुरु प्रायश्चित्त के भी तीन विभाग हैं। तपाराधना भी पूर्वोक्त क्रम से ही की जाती है।

उत्कृष्ट लघु प्रायश्चित्त, मध्यम लघु प्रायश्चित्त, जघन्य लघु प्रायश्चित्त के तीन, तीन विभाग तथा उत्कृष्ट लघुस्वक प्रायश्चित्त, मध्यम लघुस्वक प्रायश्चित्त और जघन्य लघुस्वक प्रायश्चित्त के भी तीन, तीन विभाग हैं। तपाराधना भी पूर्वोक्त मासक्रम से है। विशेष जानने के लिये व्यवहार भाष्य का अध्ययन करना चाहिये।

व्यवहार (प्रायश्चित्त) की उपादेयता—

प्र०—भगवन्! प्रायश्चित्त से जीव को क्या लाभ होता है?

उ०—प्रायश्चित्त से पापकर्म की विशुद्धि होती है और चारित्र निरतिचार होता है। सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त करने पर मार्ग (सम्यग्दर्शन) और मार्गफल (ज्ञान) की विशुद्धि होती है। आचार और आचारफल (मुक्तिमार्ग) की शुद्धि होती है।[1]

---

१. (क) उत्त० अ० २९ सू०

प्रायश्चित्त के भेद-प्रभेद—

१ ज्ञान-प्रायश्चित्त—ज्ञान के अतिचारों की शुद्धि के लिये आलोचना आदि प्रायश्चित्त करना।[1]

२ दर्शन-प्रायश्चित्त—दर्शन के अतिचारों की शुद्धि के लिये आलोचना आदि प्रायश्चित्त करना।[2]

३ चारित्र प्रायश्चित्त—चारित्र के अतिचारों की शुद्धि के लिये आलोचना आदि प्रायश्चित्त करना।[3]

(ख) पावं छिंदइ जम्हा, पायच्छित्तं तु भन्नए तेणं।
पाएण वा विचित्तं, विसोहए तेण पच्छित्तं॥

—व्यव० भाष्य पीठिका गाथा ३५।

(ग) प्रायः पापं समुद्दिष्टं, चित्तं तस्य विशोधनम्।
यदा प्रायस्य तपसः चित्तम् निश्चय इति स्मृतौ।

(घ) प्रायस्य पापस्य चित्तं विशोधनम् प्रायश्चित्तम्।

(घ) जिस प्रकार लौकिक व्यवहार में सामाजिक या राजनैतिक अपराधियों को दण्ड देने का विधान है—इसी प्रकार मूलगुण या उत्तरगुण सम्बन्धी १ अतिक्रम, २ व्यतिक्रम, ३ अतिचार और ४ अनाचारसेवियों को प्रायश्चित्त देने का विधान है।

सामान्यतया दण्ड और प्रायश्चित्त समान प्रतीत होते हैं, किन्तु दण्ड क्रूर होता है और प्रायश्चित्त अपेक्षाकृत कोमल होता है। दण्ड अनिच्छा पूर्वक स्वीकार किया जाता है और प्रायश्चित्त स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया जाता है। दण्ड से वासनाओं का दमन होता है और प्रायश्चित्त से शमन होता है।

१. ज्ञान के चौदह अतिचार।

२. दर्शन के पाँच अतिचार।

३. चारित्र के एकसौ छह (१०६) अतिचार :—

पाँच महाव्रत से पच्चीस अतिचार। रात्रिभोजन त्याग के दो अतिचार।
इर्यासमिति के चार अतिचार। भाषासमिति के दो अतिचार।
एषणा समिति के सैंतालीस अतिचार। आदान-निक्षेपणा समिति के दो अतिचार।
परिष्ठापना समिति के दस अतिचार। तीन गुप्ति के ९ अतिचार।
संलेखना के ५ अतिचार

४ वियत्त किच्चपायच्छित्ते—इस चतुर्थ प्रायश्चित्त के दो पाठान्तर हैं।

१ वियत्तकिच्चपायच्छित्ते—व्यक्तकृत्य प्रायश्चित्त।

२ चियत्तकिच्चपायच्छित्ते—त्यक्तकृत्य प्रायश्चित्त।

क—व्यक्तकृत्य प्रायश्चित्त के दो अर्थ हैं—१ व्यक्त—अर्थात् आचार्य—उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रायश्चित्त कृत्य पाप का परिहारक होता है। तात्पर्य यह है कि आचार्य यदा-कदा किसी को प्रायश्चित्त देते हैं तो वे अतिचारसेवी के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि देखकर देते हैं। आचार्य द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का उल्लेख दशा-कल्प-व्यवहार आदि में हो या न हो फिर भी उस प्रायश्चित्त से आत्मशुद्धि अवश्य होती है।

ख—व्यक्त अर्थात् स्पष्ट छेद सूत्र निर्दिष्ट प्रायश्चित्त कृत्य। भिन्न भिन्न अतिचारों के भिन्न भिन्न (आलोचनादि कृत्य) प्रायश्चित्त।

क—त्यक्त कृत्यप्रायश्चित्त—जो कृत्य त्यक्त हैं उनका प्रायश्चित्त।

ख—चियत्त—का एक अर्थ 'प्रीतिकर' भी होता है।[1] आचार्य के प्रीतिकर कृत्य वैयावृत्य आदि भी प्रायश्चित्त रूप हैं।

दस प्रकार के प्रायश्चित्त—

१ आलोचना योग्य—जिन अतिचारों की शुद्धि आलोचना से हो सकती है ऐसे अतिचारों की आलोचना करना आलोचना योग्य प्रायश्चित्त है। एषणा समिति और परिष्ठापना समिति के अतिचार प्रायः आलोचना योग्य हैं।

२ प्रतिक्रमण योग्य—जिन अतिचारों की शुद्धि प्रतिक्रमण से हो सकती है, ऐसे अतिचारों का प्रतिक्रमण करना—प्रतिक्रमण योग्य हैं। समितियों एवं गुप्तियों के अतिचार प्रायः प्रतिक्रमण योग्य हैं।

३ उभय योग्य—जिन अतिचारों की शुद्धि आलोचना और प्रतिक्रमण—दोनों से ही हो सकती है—ऐसे अतिचारों की आलोचना तथा उनका प्रतिक्रमण करना—उभय योग्य प्रायश्चित्त है। एकेन्द्रियादि जीवों का अभिधान करने से यावत् स्थानान्तरण करने से जो अतिचार होते हैं—वे उभय प्रायश्चित्त योग्य हैं।

---

१. 'चियत्त' का 'प्रीतिकर' अर्थसूचक संस्कृत रूपान्तर मिलता नहीं है।
—अर्धमागधीकोश भाग २ चियत्तशब्द पृ० ७२८

४ विवेकयोग्य—जिन अतिचारों की शुद्धि विवेक अर्थात् परित्याग से होती है—ऐसे अतिचारों का परित्याग करना विवेक (त्याग) योग्य प्रायश्चित्त हैं। आधाकर्म आहार यदि आ जाय तो उसका परित्याग करना ही विवेक योग्य प्रायश्चित्त है।

५ व्युत्सर्ग योग्य—जिन अतिचारों की शुद्धि कायिक क्रियाओं का अवरोध करके ध्येय में उपयोग स्थिर करने से होती है ऐसे अतिचार व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त योग्य हैं। नदी पार करने के बाद किया जाने वाला कायोत्सर्ग-व्युत्सर्ग योग्य प्रायश्चित्त हैं।

६ तपयोग्य—जिन अतिचारों की शुद्धि तप से ही हो सकती है—ऐसे अतिचार तप प्रायश्चित्त योग्य हैं। निशीथसूत्र निर्दिष्ट अतिचार प्रायः तप (गुरुमास, लघुमास) प्रायश्चित्त योग्य हैं।

७ छेदयोग्य—जिन अतिचारों की शुद्धि दीक्षा छेद से हो सकती है वे अतिचार छेद प्रायश्चित्त योग्य हैं। पाँच महाव्रतों के कतिपय अतिचार छेद प्रायश्चित्त योग्य हैं।[1]

८ मूलयोग्य—जिन अतिचारों की शुद्धि महाव्रतों के पुनः आरोपण करने से ही हो सकती है, ऐसे अनाचार मूल प्रायश्चित्त के योग्य होते हैं। एक या एक से अधिक महाव्रतों का होने वाला मूल प्रायश्चित्त योग्य हैं।[2]

९ अनवस्थाप्ययोग्य—जिन अनाचारों की शुद्धि व्रत एवं वेष रहित

---

१. अकारण अपवाद मार्ग सेवन में आसक्त, एक अतिचार का अनेक बार आचरणकर्ता, तथा एक साथ अनेक अतिचार सेवनकर्ता छेद प्रायश्चित्त योग्य होता है।

जिस प्रकार शेष अंग की रक्षा के लिये व्याधिविकृत अंग का छेदन अत्यावश्यक है—इसी प्रकार शेष व्रत पर्याय की रक्षा के लिये दूषित व्रत पर्याय का छेदन भी अत्यावश्यक है।

२. एक बार या अनेक बार पंचेन्द्रिय प्राणियों का वध करने वाला, शील भंग करने वाला, संक्लिष्ट संकल्पपूर्वक मृषावाद बोलने वाला, अदत्तादान करने वाला, परिग्रह रखने वाला, पर-लिंग (परिव्राजकादि का वेष) धारण करने वाला तथा गृहस्थलिंग धारण करने वाला मूल प्रायश्चित्त योग्य होता है।

करने पर ही हो सकती हैं—ऐसे अनाचार अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त योग्य होते हैं।[1]

१० पारांचिक योग्य—जिन अनाचारों की शुद्धि गृहस्थ का वेष धारण कराने पर और बहुत लम्बे समय तक निर्धारित तप का अनुष्ठान कराने पर ही हो सकती है ऐसे अनाचार पारांचिकप्रायश्चित्त योग्य होते हैं।[2] इस प्रायश्चित्त वाला व्यक्ति उपाश्रय, ग्राम और देश से वहिष्कृत किया जाता है।

प्रायश्चित्त के प्रमुख कारण—

१ अतिक्रम—दोषसेवन का संकल्प।
२ व्यतिक्रम—दोषसेवन के साधनों का संग्रह करना।
३ अतिचार—दोषसेवन प्रारम्भ करना।
४ अनाचार—दोषसेवन कर लेना।

---

१. अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त योग्य तीन हैं—
१ साधर्मिक की चोरी करने वाला,
२ अन्यधर्मियों की चोरी करने वाला,
३ दण्ड, लाठी या मुक्के आदि से प्रहार करने वाला।
—ठाणं० ३, उ० ४ सू० २०१

२. ठाणं० ६, सू० ४८६। ठाणं०८, सू० ६०५। ठाणं० ६, सू० ६८८। ठाणं०१०, सू० ७३३।
पारांचिक प्रायश्चित्त योग्य पाँच हैं—
१ जो कुल (गच्छ) में रहकर परस्पर कलह कराता हो।
२ जो गण में रहकर परस्पर कलह कराता हो।
३ जो हिंसाप्रेक्षी हो,
४ जो छिद्रप्रेमी हो,
५ प्रश्नशास्त्र का वारम्वार प्रयोग करता हो।
—ठाणं ५, उ०१ सू० ३९८।

पारांचिक प्रायश्चित्त योग्य तीन हैं—
१ दुष्ट पारांचिक
२ प्रमत्त पारांचिक
३ अन्योऽन्य मैथुनसेवी पारांचिक।

अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त के सम्वन्ध में विशेष जानने के लिये व्यवहारभाष्य देखना चाहिये।

अतिक्रम के तीन भेद—

१ ज्ञान का अतिक्रम, २ दर्शन का अतिक्रम, ३ चारित्र का अतिक्रम। इसीप्रकार ज्ञान का व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार हैं। दर्शन और चारित्र के भी तीन-तीन भेद हैं।

ज्ञान का अतिक्रम तीन प्रकार का है—

१ जघन्य, २ मध्यम, ३ उत्कृष्ट। इसी प्रकार ज्ञान का व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार हैं। दर्शन और चारित्र के भी तीन तीन भेद हैं।

ज्ञानादि का अतिक्रम हो गया हो तो गुरु के समक्ष आलोचना करना, प्रतिक्रमण करना तथा निन्दा, गर्हा आदि करके शुद्धि करना, पुनः दोषसेवन न करने का दृढ़ संकल्प करना तथा प्रायश्चित्त रूप तप करना। इसी प्रकार के ज्ञान के व्यतिक्रमादि तथा दर्शन-चारित्र के अतिक्रमादि की शुद्धि करना चाहिए।[1]

प्रतिसेवना के दस प्रकार—

१—दर्पप्रतिसेवना—अहंकारपूर्वक अकृत्य सेवन।

२—प्रमादप्रतिसेवना—निद्रादि पाँच प्रकार के प्रमादवश अकृत्य सेवन।

३—अनाभोग प्रतिसेवना— विस्मृतिपूर्वक अनिच्छा से अकृत्य सेवन।

४—आतुरप्रतिसेवना—रुग्णावस्था में अकृत्य सेवन।

५—आपत्तिप्रतिसेवना—दुर्भिक्षादि कारणों से अकृत्य सेवन।

६—शंकित प्रतिसेवना—आशंका से अकृत्य सेवन।

७—सहसाकार प्रतिसेवना—अकस्मात् या बलात्कार से अकृत्य सेवन।

८—भयप्रतिसेवना—भय से अकृत्य सेवन।

९—प्रद्वेषप्रतिसेवना—द्वेषभाव से अकृत्य सेवन।

१०—विमर्शप्रतिसेवना—शिष्य की परीक्षा के निमित्त अकृत्य सेवन।

ये प्रतिसेवनायें संक्षेप में दो प्रकार की हैं—दर्पिका और कल्पिका।

राग-द्वेष पूर्वक जो अकृत्य सेवन किया जाता है वह दर्पिका प्रतिसेवना है। इस प्रतिसेवना से प्रतिसेवक विराधक होता है।

---

१. (क) ठाणं ३ उ०४ सू० १९५।

(ख) अस्वाध्यायकाल में स्वाध्याय करने का संकल्प करना ज्ञान का अतिक्रम है। पुस्तक लेने जाना—ज्ञान का व्यतिक्रम है। स्वाध्याय प्रारम्भ करना ज्ञान का अतिचार है। पूर्ण स्वाध्याय करना ज्ञान का अनाचार है। इसी प्रकार दर्शन तथा चारित्र के अतिक्रमादि समझने चाहिए।

राग-द्वेष रहित परिणामों से जो प्रतिसेवना हो जाती है या की जाती है वह कल्पिका प्रतिसेवना है। इसका प्रतिसेवक आराधक होता है।[1]

आठ प्रकार के ज्ञानातिचार—

१ कालातिचार—अकाल में स्वाध्याय करना।

२ विनयातिचार—श्रुत का अध्ययन करते समय जाति और कुल मद से गुरु का विनय न करना।

३ बहुमानातिचार—श्रुत और गुरु का सन्मान न करना।

४ उपधानातिचार—श्रुत की वाचना लेते समय आचाम्लादि तप न करना।

५ निह्नवनाभिधानातिचार—गुरु का नाम छिपाना।

६ व्यंजनातिचार—हीनाधिक अक्षरों का उच्चारण करना।

७ अर्थातिचार—प्रसंग संगत अर्थ न करना। अर्थात् विपरीत अर्थ करना।

८ उभयातिचार—ह्रस्व की जगह दीर्घ उच्चारण करना, दीर्घ की जगह ह्रस्व उच्चारण करना। उदात्त के स्थान में अनुदात्त का और अनुदात्त के स्थान में उदात्त का उच्चारण करना।

अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार ये तीन संज्वलन कषाय के उदय से होते हैं[2]—इनकी शुद्धि आलोचनार्ह से लेकर तपोऽर्हपर्यन्त प्रायश्चित्तों से होती है।

छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त योग्य अतिचार और अनाचार शेष बारह कषायों (अनन्तानुबन्धी ४, अप्रत्याख्यानी ४, प्रत्याख्यानी ४) के उदय से होते हैं।

प्रकट और प्रच्छन्न दोष सेवन—

अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार—इन चार प्रकार के दोषों का सेवन करने वाले श्रमण-श्रमणियां चार प्रकार के हैं।

१ कुछ श्रमण-श्रमणियाँ इन उक्त दोषो का सेवन प्रकट करते है अर्थात् प्रच्छन्न नहीं करते हैं।

---

१. गाहा—रागद्दोसाणुगया, तु दप्पिया कप्पिया तु तदभावा।
आराधणा उ कप्पे, विराधणा होंति दप्पेण॥
—बृह० उ० ४ भाष्य गाथा ४९४३।

२. सव्वे वि अइयारा संजलणाणं उदयओ होंति॥
अभि० कोष-'अइयार' शब्द।

२ कुछ श्रमण-श्रमणियाँ इन उक्त दोषों का सेवन प्रच्छन्न करते हैं अर्थात् प्रकट नहीं करते हैं।

३ कुछ श्रमण-श्रमणियाँ इन उक्त दोषों का सेवन प्रकट भी करते हैं और प्रच्छन्न भी करते हैं।

४ कुछ श्रमण-श्रमणियाँ इन उक्त दोषों का सेवन न प्रकट करते हैं और न प्रच्छन्न करते हैं।[१]

प्रथम भंग वाले–श्रमण-श्रमणियाँ अनुशासन में नहीं रहने वाले अविनीत, स्वच्छन्द, प्रपंची एवं निर्लज्ज होते हैं और वे पापभीरू नहीं होते हैं अतः दोषों का सेवन प्रकट करते हैं।

द्वितीय भंग वाले–श्रमण-श्रमणियाँ दो प्रकार के होते है–अतः दोष का सेवन प्रकट करते हैं। यथा :—

प्रशस्त भावना वाले जो श्रमण-श्रमणियाँ हैं वे यदि यदा-कदा उक्त दोषों का सेवन करते हैं तो प्रछन्न करते है, क्योंकि वे स्वयं परिस्थितिवश आत्मिक दुर्बलता के कारण दोषों का सेवन करते है इसलिए ऐसा सोचते है कि मुझे दोष-सेवन करते हुये देखकर अन्य श्रमण-श्रमणियाँ दोष-सेवन न करें, अतः वे दोषों का सेवन प्रच्छन्न करते है।

अप्रशस्त भावना वाले–मायावी श्रमण-श्रमणियाँ लोक-लज्जा के भय से या श्रद्धालुजनों की श्रद्धा मेरे पर बनी रहे इस संकल्प से उक्त दोषों का सेवन प्रकट नहीं करते हैं अपितु छिपकर करते हैं।

तृतीय भंग वाले–श्रमण-श्रमणियाँ वंचक प्रकृति के होते है वे सामान्य दोषों का सेवन तो प्रकट करते हैं किन्तु शसक्त (प्रबल) दोषों का सेवन प्रच्छन्न करते हैं।

यदि उन्हें कोई सामान्य दोष सेवन करते हुये देखता है तो वे कहते हैं— "सामान्य दोष तो इस पंचमकाल में सभी को लगते हैं। अतः इन दोषों से बचना असम्भव है।"

चतुर्थ भंग वाले–श्रमण-श्रमणियाँ सच्चे वैराग्य वाले होते हैं, मुमुक्षु और स्वाध्यायशील भी होते हैं अतः वे उक्त दोषों का सेवन न प्रकट [illegible] प्रच्छन्न करते हैं।

प्रथम तीन भंग वाले श्रमण-श्रमणियों द्वारा सेवित दोषों की शुद्धि के लिए

---

१. ठाणं–४, उ०१, सू० २७२

ही व्यवहार सूत्र निर्दिष्ट प्रायश्चित्त-विधान है। अंतिम चतुर्थ भंग वाले श्रमण-श्रमणियाँ निरतिचार चारित्र के पालक होते हैं अतः उनके लिये किसी भी प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान नहीं है।

व्यवहारशुद्धि कठिन भी, सरल भी—

प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव आदिनाथ के धर्मशासन में श्रमण-श्रमणियाँ प्रायः ऋजु-सरल होते थे पर जड (अल्पबौद्धिक विकास वाले) होते थे। अतः वे सूत्र सिद्धान्त निर्दिष्ट समाचारी का परिपूर्ण ज्ञान तथा परिपूर्ण पालन नहीं कर पाते थे। उनकी व्यवहार शुद्धि दुःसाध्य होने का एकमात्र यही कारण था।

बावीस तीर्थंकरों (भगवान अजितनाथ से भ० पार्श्वनाथ पर्यन्त) के श्रमण-श्रमणी प्रायः ऋजु-प्राज्ञ (सरल और प्रबुद्ध) होते थे। वे सूत्र सिद्धान्त प्रतिपादित समाचारी का परिपूर्ण ज्ञान तथा परिपूर्ण पालन करने में सदा प्रयत्नशील रहते थे अतः उनकी व्यवहार शुद्धि अति सरल थी।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की परम्परा के श्रमण-श्रमणी प्रायः वक्रजड हैं। दशा, कल्प, व्यवहार आदि में विशद श्रुत समाचारी के होते हुये भी प्रत्येक गच्छ भिन्न भिन्न समाचारी की प्ररूपणा करता है। पर्युषण-पर्व तथा संवत्सरी पर्व जैसे महान धार्मिक पर्वों की आराधना, पक्खी, चौमासी आलोचना भी विभिन्न दिनों में की जाती है। वक्रता और जड़ता के कारण मूलगुण तथा उत्तरगुणों में लगने वाले अतिचारों की आलोचना भी वे सरल हृदय से नहीं करते अतः उनकी व्यवहार शुद्धि अति कठिन है।[1]

आलोचना और आलोचक—

आलोचना—अज्ञान, अहंकार, प्रमाद या परिस्थितिवश जो उत्सर्ग मार्ग से स्खलन अर्थात् अतिचार होता है—उसे गुरु के समक्ष प्रगट करना आलोचना है और आलोचक वह है जो पूर्वोक्त कारणों से लगे हुये अतिचारों को गुरु के समक्ष प्रगट करता है।

यदि आलोचक मायावी हो और मायापूर्वक आलोचना करता हो तो उसकी आलोचना का उसे अच्छा फल नही मिलता है।

---

१. गाहा—पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ, चरिमाणं दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ॥
—उत्त० अ० २३, गाथा-२७।

यदि आलोचक मायावी नहीं है और मायारहित आलोचना करता है तो उसकी आलोचना का उसे अच्छा फल मिलता है।

व्यवहार शुद्धि के लिये तथा निश्चय (आत्म) शुद्धि के लिये लगे हुये अतिचारों की आलोचना करना अनिवार्य है किन्तु साधकों के विभिन्न वर्ग है। उनमें एक वर्ग ऐसा है जो अतिचारों की आलोचना करता ही नहीं है।

उनका कहना है—हमने अतिचार (अकृत्य) सेवन किये हैं, करते हैं और करते रहेंगे। क्योंकि देश, काल और शारीरिक-मानसिक स्थितियाँ ऐसी हैं कि हमारा संयमी जीवन निरतिचार रहे—ऐसा हमें संभव नहीं लगता है अतः आलोचना से क्या लाभ है यह तो हस्तिस्नान जैसी प्रक्रिया है। अतिचार लगे आलोचना की और फिर अतिचार लगे-यह चक्र चलता ही रहता है।

उनका यह चिन्तन अविवेक पूर्ण है-क्योंकि वस्त्र पहने हैं, पहनते हैं और पहनते रहेंगे तो पहने गये वस्त्र मलिन हुये हैं, होते हैं और होते रहेंगे-'फिर वस्त्र शुद्धि से क्या लाभ है!'-यह कहना कहाँ तक उचित है?

जब तक वस्त्र पहनना है तब तक उन्हें शुद्ध रखना भी एक कर्तव्य है-क्योंकि वस्त्रशुद्धि के भी कई लाभ हैं-प्रतिदिन शुद्ध किये जाने वाले वस्त्र अति मलिन नहीं होते हैं और स्वच्छ वस्त्रों से स्वास्थ्य भी समृद्ध रहता है।

इसी प्रकार जब तक योगों के व्यापार हैं और कषाय तीव्र या मन्द है तब तक अतिचार जन्य कर्ममल लगना निश्चित है।

प्रतिदिन अतिचारों की आलोचना करते रहने से आत्मा कर्ममल से अतिमलिन नहीं होता है और भाव आरोग्य रहता है। ज्यों ज्यों योगों का व्यापार अवरुद्ध होता है और कषाय मन्द तम होते जाते हैं त्यों त्यों अतिचारों का लगना अल्प होता जाता हैं।

द्वितीय वर्ग ऐसा है—जो अयश-अकीर्ति, अवर्ण (निन्दा) या अवज्ञा के भय से अथवा यश-कीर्ति या पूजा-सत्कार कम हो जाने के भय से अतिचारों की आलोचना ही नहीं करते।

तृतीय वर्ग ऐसा है जो आलोचना तो करता है पर मायापूर्वक करता है। वह सोचता है मैं यदि आलोचना नहीं करूंगा तो मेरा वर्तमान जीवन गर्हित हो जायगा और भावी जीवन भी विकृत हो जायगा। अथवा आलोचना करूंगा तो मेरा वर्तमान एवं भावी जीवन प्रशस्त हो जायगा अथवा आलोचना कर लूंगा तो ज्ञानदर्शन एवं चारित्र की प्राप्ति हो जायगी।

मायावी आलोचक को दुगुना प्रायश्चित्त देने का विधान प्रारम्भ के सूत्रों में है।

चौथावर्ग ऐसा है जो मायारहित आलोचना करता है, वह १ जातिसम्पन्न २ कुलसम्पन्न, ३ विनयसम्पन्न, ४ ज्ञानसम्पन्न, ५ दर्शनसम्पन्न, ६ चारित्र-सम्पन्न, ७ क्षमाशील, ८ निग्रहशील, ९ अमायी, १० अपश्चात्तापी। ऐसे साधकों का यह वर्ग है। इनका व्यवहार और निश्चय दोनों शुद्ध होते हैं।

आलोचक गीतार्थ हो या अगीतार्थ, उन्हें आलोचना सदा गीतार्थ के सामने ही करनी चाहिये। गीतार्थ के अभाव में किन के सामने करना चाहिये।[1] उनका एक क्रम है–जो छेदसूत्रों के स्वाध्याय से जाना जा सकता है।

व्यवहार सूत्र का सम्पादन क्यों—

संयमी आत्माओं के जीवन का चरम लक्ष्य है—"निश्चयशुद्धि" अर्थात् आत्माकी (कर्म-मल से) सर्वथा मुक्ति। और इसके लिये व्यवहार सूत्र प्रति-प्रादित व्यवहार शुद्धि अनिवार्य है।

जिसप्रकार शारीरिक स्वास्थ्य लाभ के लिये उदर शुद्धि आवश्यक है और उदरशुद्धि के लिये आहारशुद्धि अत्यावश्यक है—इसी प्रकार आध्यात्मिक······आरोग्य लाभ के लिए निश्चयशुद्धि आवश्यक है और निश्चयशुद्धि के लिये व्यवहार शुद्धि आवश्यक है। क्योंकि व्यवहार शुद्धि के विना निश्चय शुद्धि सर्वथा असंभव है।

सांसारिक जीवन में व्यवहार शुद्धि वाले (रुपये-पैसों के देने लेने में प्रामाणिक के साथ ही लेन-देन का व्यवहार किया जाता है। आध्यात्मिक जीवन में भी व्यवहार शुद्ध साधक के साथ ही कृतिकर्मादि (वन्दन-पूजनादि) व्यवहार किये जाते हैं।

व्यवहार सूत्र प्रतिपादित पांच व्यवहारों से संयमी आत्माओं का व्यवहार पक्ष शुद्ध (अतिचारजन्य पाप मल-रहित) होता है।

---

१. गाहा—आयरियपायमूलं, गंत्तूणं सइ परक्कमे।
ताहे सव्वेण अत्तसोही, कायव्वा एस उवएसो ॥
जह सकुसलो वि वेज्जो, अन्नस्स कहेइ अत्तणो वाहिं।
वेज्जस्स य सो सोउंतो, पडिकम्मं समारभते ॥
जायंतेण वि एवं, पायच्छित्तविहिमप्पणो निउणं।
तह वि य पागडतरयं, आलोएदव्वयं होइ ॥
जह बालो जप्पंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोइज्जा मायामय विप्पमुक्को उ ॥
—व्यव० उ० १० भाष्य गाथा ४६०-४७१।

व्यवहार सूत्र के कतिपय संस्करण पूर्व-प्रकाशित हैं पर वे प्राय: अनुपलब्ध हैं। संस्कृत टीकायें और भाष्य सरल एवं सुबोध नहीं है। व्यवहार भाष्य का प्रथम संस्करण अप्राप्य है।

छेदसूत्रों का प्रकाशन यद्यपि निषिद्ध है फिर भी सर्वथा निषिद्ध नहीं है। छेदसूत्रों के प्रकाशनों का विरोध हुआ है पर समर्थन भी हुआ है—पर वास्तविकता यह है कि—सदुपयोग से लाभ और दुरुपयोग से हानि होना सुनिश्चित है।[1]

प्रस्तुत संस्करण के सम्पादन में मूलपाठ के साथ संक्षिप्त सरल अर्थ और कहीं-कहीं व्यवहार भाष्य प्रतिपादित स्पष्टीकरणों का आधार लेकर विशेषार्थ भी दिये हैं। आशा है-इस सूत्र के स्वाध्याय से स्वाध्यायशील साधकों की साधना सफलता की ओर अग्रसर होगी यही प्रस्तुत सम्पादन का प्रमुख लक्ष्य है।

सहयोग और संकल्पसिद्धि :

कार्य के संकल्प की अपेक्षा उसकी सिद्धि सदा महत्त्वपूर्ण होती है, और संकल्प सिद्धि में सहयोग का प्राप्त होना भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि सहयोग से कार्य का सम्पादन अतिसरल हो जाता है।

सुप्रसिद्ध लेखक एवं तत्त्वचिन्तक श्री देवेन्द्रमुनि जी शास्त्री ने प्रस्तुत संस्करण की विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखकर व्यवहार सूत्र के प्रतिपाद्य विषय की विस्तृत विवेचना की है। जिज्ञासुजन इस भूमिका से व्यवहार सूत्र का संक्षिप्त परिचय सरलता से प्राप्त करेंगे।

सुज्ञ पाठक यदि सम्पादकीय पढ़कर देवेन्द्रमुनि जी की लिखी हुई भूमिका का पारायण करेंगे तो उन्हें अधिक लाभ होगा। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। मुनिश्री का यह हार्दिक सहयोग मेरे जीवन में सदा स्मरणीय रहेगा। श्रुत साहित्य सेवामय आपका जीवन अनेकानेक भव्य भावुक हृदयों को सदा सर्वदा रत्नत्रय की साधना के लिये प्रेरणा प्रद रहे—यही एक मात्र शुभ कामना है।

विद्वद्रत्न श्री शोभाचन्दजी भारिल्ल, श्री हीरालालजी शास्त्री, श्री दलसुखभाई मालवणिया आदि का इस सूत्र के सम्पादन कार्य में समय-समय पर समुचित सहयोग प्राप्त होता रहा है, साहित्य सामग्री आदि की सुविधायें प्राप्त होने से यह कार्य सरलतापूर्वक सम्पन्न हुआ है अतः श्रद्धापूर्वक उनके प्रति हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

---

१. मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइं मिच्छासुयं,...... ।
सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइं सम्मसुयं...... ।

श्री विनयमुनि के सेवाकार्यों का योगदान इस सम्पादन कार्य में इतना महत्त्वपूर्ण रहा है कि निर्विघ्नपूर्ति का सारा श्रेय उसे ही प्राप्त है। यथा समय कल्पनीय पथ्यादि की एषणा, उपयोगी साहित्य सामग्री का संचय और सुव्यवस्था आदि अनेक सेवाकार्य अनासक्त भाव से विनयपूर्वक करता है—यही इसके संयमी जीवन की अमूल्य निधि है।

महासती जी श्री माणेक कंवरजी की सुशिक्षा, श्री मुक्तिप्रभाजी श्री दिव्य-प्रभाजी श्रीअनुपमाजी आदि ने विद्वत्ता एवं विवेकपूर्वक इस व्यवहार सूत्र के परिशिष्ट तैयार करके तथा प्रतिलिपि करके अनुपम सहयोग प्रदान किया है—इससे यह कार्य यथासमय सम्पन्न हो सका है। आपकी श्रुत सेवा की हार्दिक लगन प्रशंसनीय एवं चिरस्मरणीय है।

सबका सहयोगाभिलाषी
मुनि कन्हैयालाल 'कमल'

बालकेश्वर बम्बई □

प्रस्तावना

व्यवहारसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन

—देवेन्द्र मुनि शास्त्री

भारतीय संस्कृति विश्व की एक महान् संस्कृति है, यह अतीतकाल से ही जन-जन के अन्तर्मानस में पवित्र प्रेरणा का स्रोत बहाती रही है। यह संस्कृति श्रमण और ब्राह्मण इन दो धाराओं में विभक्त रही है। श्रमण और ब्राह्मण युग-युग से भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते रहे हैं। आत्मा, परमात्मा और विराट् विश्व के सम्बन्ध में वे गहराई से अनुशीलन-परिशीलन करते रहे हैं। भारतीय तत्त्वद्रष्टा ऋषि-महर्षि, श्रमण और मुनि तथा मूर्धन्य मनीषीगण ने अपने अनूठे तत्वज्ञान के द्वारा जो जन-जीवन को आध्यात्मिक, नैतिक व सांस्कृतिक आलोक प्रदान किया वह चिन्तन आज भी प्राचीन साहित्य के रूप में उपलब्ध हैं।

भारतीय चिन्तन को हम श्रुत और श्रुति के रूप में जानते हैं। श्रुति वेदों की प्राचीन संज्ञा है, वह ब्राह्मण संस्कृति से सम्बन्धित मूल वैदिक विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करती है और वही बाद में शैव और वैष्णव प्रभृति धर्म परम्पराओं का मूलाधार बनी। श्रुत श्रमण-संस्कृति का मूल स्रोत है। यद्यपि श्रुति और श्रुत दोनों का ही सम्बन्ध श्रवण से है, जो सुनने में आता है वह श्रुत है[1] और वही भाववाचक मात्र श्रवण श्रुति है। पर यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सामान्य व्यक्तियों का कथन श्रुत और श्रुति नहीं है। पर जो विशिष्ट ज्ञाता आप्तपुरुष हैं, उन्हीं का कथन श्रुति और श्रुत के रूप में विश्रुत रहा है।

ब्राह्मण परम्परा का मूल वैचारिक स्रोत वेद है। वैदिक परम्परावादी

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र-राजवार्तिक
(ख) विशेषावश्यक भाष्य—मलधारीयावृत्ति

विज्ञों का अभिमत है कि वेद ईश्वर की वाणी है। वेद किसी सामान्य व्यक्ति विशेष के द्वारा कहा हुआ नहीं, अपितु ईश्वर द्वारा उपदिष्ट विचारों का संकलन है। कितने ही विचारक यह भी मानते हैं कि वेद तत्वद्रष्टा ऋषियों की अनुभूत वाणी का संकलन व आकलन है। प्रारम्भ में वेद संख्या की दृष्टि से तीन थे। अतः वे वेदत्रयी के रूप में विश्रुत रहे। पश्चात् अथर्व को मिला देने से वेदों की संख्या चार हो गई। भाषा की दृष्टि से यह साहित्य संस्कृत में है। वेदों की व्याख्या ब्राह्मण व आरण्यक ग्रन्थों में हुई जहाँ पर मुख्य रूप से कर्मकाण्ड का विश्लेषण है। उपनिषदों में ज्ञानकाण्ड की प्रधानता है। वेदों को प्रमाण मानकर स्मृति और सूत्र साहित्य का निर्माण हुआ।

श्रमण-संस्कृति दो विभागों में विभक्त हुई। एक बौद्ध और दूसरी जैन। बौद्ध संस्कृति का प्रतिनिधित्व तथागत बुद्ध ने किया। बुद्ध ने अपने जिज्ञासुओं को जो उपदेश प्रदान किया वह त्रिपिटक साहित्य के रूप में उपलब्ध हैं। त्रिपिटक बुद्ध के उपदेशों का एक सुन्दर संकलन है। सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक। सुत्तपिटक में सूत्र के रूप में बहुत ही संक्षेप में उपदेश दिया गया है। विनयपिटक में आचार-संहिता का विश्लेषण है, और अभिधम्मपिटक में तत्त्वों का गहराई से विवेचन हैं। बौद्धसाहित्य बहुत ही विशाल है। तथापि यह कहा जा सकता है कि त्रिपिटक में बौद्ध विचारों का नवनीत है। त्रिपिटक साहित्य की भाषा पाली है जो उस युग की जन भाषा थी।

श्रमण संस्कृति का दूसरा रूप जैन संस्कृति है। जिन की वाणी व उपदेश में जिसे विश्वास है वह जैन है। यहाँ पर 'जिन' से तात्पर्य राग-द्वेष रूप आत्म-विकारों पर विजय करने वाले जिन याने तीर्थंकर हैं। तीर्थंकरों की पवित्र वाणी का संकलन आगम है। आगम आत्मिक ज्ञान-विज्ञान का अक्षयकोष है। उसमें साधक के अन्तर्मानस में उद्बुद्ध होने वाली जिज्ञासाओं का व्यापक समाधान है।

प्राचीन काल से जैन परम्परा का श्रुत साहित्य अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य इन दो रूपों में विभक्त है।[2] अंग-प्रविष्ट श्रुत वह है जो अर्थरूप में महान् ऋषि तीर्थंकरों के द्वारा कहा गया है और उसके पश्चात् तीर्थंकर के प्रधान शिष्य श्रुत केवली गणधरों के द्वारा सूत्र रूप में रचा गया है।[3]

अंगबाह्य श्रुत वह है जो गणधरों के पश्चात् विशुद्धागम विशिष्ट बुद्धि-शक्ति-सम्पन्न आचार्यों के द्वारा काल एवं संहनन प्रभृति दोषों के कारण अल्प

---

२. नन्दी सूत्र-श्रुतज्ञान प्रकरण।

३. तत्त्वार्थ० स्वोपज्ञभाष्य १-२०

बुद्धि शिष्यों के अनुग्रह के लिए स्थविरों के द्वारा रचित है।[४] अंगप्रविष्ट-श्रुत गणनायक आचार्यों का सर्वस्व होने से उसे गणिपिटक कहा गया है।[५] वह संख्या की दृष्टि से बारह प्रकार का है[६] जैसे (१) **आयार** (आचार) (२) **सूयगड** (सूत्रकृत) (३) **ठाण** (स्थान) (४) **समवाय** (समवाय) (५) **विवाहपन्नत्ति** (व्याख्याप्रज्ञप्ति) या (भगवती) (६) **नायाधम्मकहा** (ज्ञाताधर्मकथा) (७) **उवासगदसा** (उपासकदशा) (८) **अंतगडदसा** (अन्तकृत्दशा) (९) **अणुत्तरोववाईयदसा** (अनुत्तरोपपातिकदशा) (१०) **पण्हावागरणाइ** (प्रश्नव्याकरणानि) (११) **विवागसुय** (विपाकसूत्र) (१२) **दिट्ठिवाय** (दृष्टिवाद या दृष्टिपात)

दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका ये पाँच प्रकार थे। उसमें, पूर्वगत में उत्पाद, अग्रायणीय आदि चौदह पूर्व थे। दृष्टिवाद अंग श्रमण भगवान महावीर-परिनिर्वाण के १००० वर्ष पश्चात् विच्छिन्न हो गया।

अंगों की संख्या निर्धारित है, पर अंग-बाह्य आगमों की संख्या निर्धारित नहीं है। आचार्य उमास्वाति ने अंग-बाह्य आगमों की संख्या का उल्लेख करते हुए उसे अनेक कहा है।[८] अंग-बाह्य को आचार्य देववाचक ने आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त इन दो भागों में विभक्त किया है।[९] और साथ ही कालिक और उत्कालिक के रूप में भी।[१०] आवश्यक के सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान ये छः प्रकार हैं। और आवश्यक व्यतिरिक्त में औपपातिक, राजप्रश्नीय, प्रज्ञापना, निशीथ, व्यवहार आदि अनेक आगम हैं। कालिक में उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कंध, कल्प, व्यवहार आदि अनेक आगम आते हैं और उत्कालिक में सूर्यप्रज्ञप्ति, पौरुषीमंडल आदि अनेक आगम हैं।

आचार्य आर्यरक्षित ने आगमों को अनुयोगों के आधार से चार भागों में विभक्त किया है[११]—

---

४. वही०- " १-२०
५. अनुयोग द्वार-प्रमाण प्रकरण (ख) समवायांग-समवाय-१४८
६. नन्दीसूत्र-श्रुत ज्ञान प्रकरण
७. भगवती-२०/८ (ख) तित्थोगाली-८०१
८. तत्त्वार्थसूत्र १-२०
९. नन्दीसूत्र सू. ८२ (पुण्यविजयजी)
१०. वही० सू. ८३-८४ (पुण्यविजयजी)
११. (क) आवश्यक निर्युक्ति ३६३-३६७
(ख) विशेषावश्यक भाष्य २२८४-२२९५
(ग) दशवैकालिक निर्युक्ति ३ टीका

(१) चरण-करणानुयोग—कालिकश्रुत, महाकल्प, छेदश्रुत आदि।
(२) धर्म-कथानुयोग—ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन आदि।
(३) गणितानुयोग—सूर्यप्रज्ञप्ति आदि।
(४) द्रव्यानुयोग—दृष्टिवाद आदि।

विषय सादृश्य की दृष्टि से प्रस्तुत वर्गीकरण है, पर व्याख्या क्रम की दृष्टि से आगमों के दो रूप प्राप्त होते हैं[१२]—

(१) अपृथक्त्वानुयोग
(२) पृथक्त्वानुयोग,

जिनदासगणी महत्तर[१३] ने लिखा है—अपृथक्त्वानुयोग के समय प्रत्येक सूत्र की व्याख्या चरण, करण, धर्म, गणित और द्रव्य, अनुयोग एवं सप्तनय की दृष्टि से की जाती थी, पर पृथक्त्वानुयोग में चारों अनुयोगों की व्याख्याएँ पृथक्-पृथक् रूप में की जाने लगी। अनुयोगों के आधार पर जो वर्गीकरण किया गया है, वह, वर्गीकरण स्थूल दृष्टि से है। उदाहरणार्थ, उत्तराध्ययन को धर्म कथानुयोग के अन्तर्गत लिया है, पर उसमें दार्शनिक तथ्य भी पर्याप्त मात्रा में रहे हुए हैं। इसी तरह; अन्य आगमों के सम्बन्ध में भी यह बात रही हुई है क्योंकि कुछ आगमों को छोड़कर शेष आगमों में चारों अनुयोगों का सम्मिश्रण है।

आगमों का सबसे अंतिम वर्गीकरण अंग, उपांग, मूल और छेद के रूप में प्राप्त होता है। नन्दी में जो आगमों का विभाग किया गया है, मूल, छेद और उपांग के रूप में नहीं हुआ है और न वहाँ ये शब्द ही हैं। उपांग के अर्थ में ही अंग-बाह्य शब्द आया है। उपांग का उल्लेख तत्त्वार्थभाष्य में मिलता है।[१४] और उसके पश्चात् आचार्य श्रीचन्द के सुखबोधा समाचारी में[१५] आचार्य जिनप्रभरचित विधिमार्गप्रपा में[१६] तथा वायणाविहि[१७] में उपांग शब्द का प्रयोग हुआ है। पं० बेचरदासजी दोशी[१८] का मानना है कि चूर्णी साहित्य में भी उपांग शब्द आया है।

---

१२. सूत्रकृतांग चूर्णि पत्र-४
१३. सूत्रकृतांग चूर्णि पत्र ४
१४. तत्त्वार्थसूत्र तत्त्वार्थ भाष्य १-२०
१५. सुखबोधा समाचारी, पृष्ठ ३१-३४
१६. 'इयाणि उवंगा"—विधिमार्ग प्रपा०
१७, वायणाविहि, पृ० ६४
१८. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास-भाग १, पृ० ३०

मूल और छेद विभाग नन्दी आदि में नहीं मिलता। मूल और छेद का विभाग सर्वप्रथम प्रभावक चरित[१९] में प्राप्त होता है और उसके पश्चात् उपाध्याय समयसुन्दरगणी के समाचारी शतक[२०] में उपलब्ध होता है। छेद सूत्र का नामोल्लेख आवश्यक निर्युक्ति[२१] में सर्वप्रथम हुआ है। उसके बाद विशेषावश्यक भाष्य और[२२] निशीथ भाष्य में हुआ[२३] है यह स्पष्ट है कि मूल सूत्र से पहले छेद सूत्र का नामकरण हुआ।

छेद सूत्रों के नामकरण के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। यह स्पष्ट है कि जिन आगमों को छेद-सूत्र के अन्तर्गत गिना है वे प्रायश्चित्त सूत्र हैं। पाँच चारित्रों में, द्वितीय चारित्र छेदोपस्थापनिक है।[२४] प्रायश्चित्त का सम्बन्ध इसी चारित्र से है। अतः इनका नाम छेद सूत्र रखा गया हो। आवश्यक मलयगिरि वृत्ति में[२५] छेद-सूत्रों के लिए पद-विभाग, समाचारी, शब्द व्यवहृत हुए हैं। पद-विभाग और छेद दोनों समानार्थ वाले हैं। इस दृष्टि से भी सम्भव है छेद-सूत्र यह नाम रखा गया हो। छेद सूत्र में एक सूत्र का दूसरे सूत्र से सम्बन्ध नहीं होता। उसमें प्रत्येक सूत्र स्वतन्त्र होते हैं। उनकी व्याख्या विभाग की दृष्टि से की जाती है।

निशीथ-भाष्य में[२६] और चूर्णि में[२७] छेद सूत्रों को उत्तम श्रुत कहा गया है। क्योंकि छेद सूत्र प्रायश्चित्त विधि का निरूपण करते हैं। उससे चारित्र की शुद्धि होती है। इसलिए वह उत्तम श्रुत है।

श्रमण—जीवन की साधना का सभी दृष्टियों से पूर्ण विवेचन छेद-सूत्रों में प्राप्त होता है। साधक की मर्यादा, उसका कर्तव्य आदि विविध दृष्टियों पर छेद-सूत्रों में विचार किया गया है। साधना करते कहीं स्खलना हो जाय, दोष-जन्य मलिनता आ जाय, भूलों से जीवन कलुषित हो जाय उसके परिष्कार हेतु प्रायश्चित्त का विधान है और यह सारा कार्य छेद-सूत्र का है।

---

१९. प्रभावक चरित-२४१ द्वितीय आर्यरक्षित प्रबन्ध।
२०. समाचारी शतक
२१. आवश्यक निर्युक्ति-७७७
२२. विशेषावश्यक भाष्य-२२९५
२३. निशीथ भाष्य-५९४७
२४. विशेषावश्यक भाष्य गाथा १२६०-१२७०
२५. आवश्यक मलयगिरि वृत्ति-६६५
२६. निशीथ भाष्य-६१४८
२७. निशीथ चूर्णि-६१८४

छेद सूत्रों में जो आचार-संहिता है उसे हम उत्सर्ग, अपवाद, दोप, और प्रायश्चित्त इन चार भागों में विभक्त कर सकते हैं।[२८] उत्सर्ग से तात्पर्य है किसी विषय का सामान्य विधान। अपवाद का अर्थ है परिस्थिति विशेष की दृष्टि से विशेष विधान। दोप का अर्थ है उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का भंग करना। और प्रायश्चित्त का अर्थ है व्रत भंग होने पर उचित दण्ड लेकर उस दोप का शुद्धीकरण करना। किसी भी विधान के लिए चार बातें आवश्यक हैं। सर्वप्रथम नियम बनते हैं। उसके बाद देश, काल और परिस्थिति के अनुसार उसमें किंचित् छूट दी जाती है। यह परिस्थिति विशेष के लिए अपवाद की व्यवस्था की गई है। जो दोष साधक को लग सकते हैं उन दोषों की एक लंबी सूची छेद सूत्रों में प्राप्त होती है। इस सूची से तात्पर्य है उन दोषों से साधक बचने का प्रयास करें। यदि सावधानी रखने के बावजूद भी दोप लग जायं तो प्रायश्चित्त का विधान है। प्रायश्चित्त से पुराने दोषों की शुद्धि होती है और नवीन दोष न लगे इसके लिए साधक को सतत सावधान रखने के लिए प्रेरणा मिलती है।

छेद-सूत्रों में आचार सम्बन्धी जिसप्रकार के नियम और उपनियमों का विवेचन संप्राप्त होता है उसी तरह का वर्णन बौद्ध साहित्य में भी प्राप्त होता है। विनयपिटक[२९] में भी प्रायश्चित्त का विधान है। जिसमें विविध प्रकार के दोषों का उल्लेख करते हुए उसकी शुद्धि का वर्णन है। विस्तार भय की दृष्टि से हम यहाँ पर उसकी छेद-सूत्रों के साथ तुलना नहीं कर रहे हैं। पर हम विज्ञों का ध्यान इस ओर केन्द्रित करते हैं कि यदि विस्तार के साथ तुलनात्मक व समीक्षात्मक अध्ययन किया जाय तो बहुत कुछ नये तथ्य प्रकट होंगे और साथ ही यह परिज्ञान होगा कि श्रमण-संस्कृति की दोनों धाराओं में कितनी अधिक समानता है। साथ ही वैदिक परम्परा मान्य कल्प-सूत्र, श्रौत सूत्र और गृहसूत्र में वर्णित आचार-संहिता की तुलना छेद-सूत्रों के नियमोपनियमों के साथ सहज रूप से की जा सकती है।

यह बात स्पष्ट है कि छेद सूत्रों का विषय अत्यन्त गहन है। मैं प्रबुद्ध पाठकों से विनम्र निवेदन करना चाहूँगा कि वे छेद-सूत्रों का अध्ययन करते समय पूर्वापर-प्रसंगों को गहराई से समझने का प्रयत्न करें। ऐतिहासिक दृष्टि से वे स्थितियों को समझने का ध्यान रखें। जब तक साधक श्रमण धर्म के, आचार धर्म के गहन रहस्य, सूक्ष्म क्रिया-कलाप, न समझेगा तब तक वह छेद

---

२८. 'जैन आगम साहित्य: मनन और मीमांसा' पृ० ३४७

२९. विनय पिटक-पाराजित पाली, भिक्खु पातिमोक्ख भिक्खुणी पातिमोक्ख।

सूत्रों के मर्म को नहीं समझ सकेगा। छेद सूत्र ऐसे प्रकाश स्तंभ हैं जिसके निर्मल आलोक में साधक अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न होने पर सही निर्णय ले सकता है। छेद-सूत्रों में जैनसंस्कृति के गहन आचार और विचारों का जो विश्लेषण हुआ है, वह अद्वितीय है, अपूर्व है। उसमें संस्कृति की महान् गरिमा और महिमा रही हुई है।

समाचारी शतक[30] में समयसुन्दरगणी ने छेद सूत्रों की संख्या छः बतलायी है—

(१) दशाश्रुतस्कंध (२) व्यवहार (३) बृहत्कल्प (४) निशीथ (५) महानिशीथ और (६) जीतकल्प।

नन्दी सूत्र[31] में जीतकल्प के अतिरिक्त पांच नाम उपलब्ध होते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, और व्यवहार ये तीनों आगम चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु स्वामी ने प्रत्याख्यानपूर्व से निर्यूढ किये हैं।[32] निशीथ का निर्यूहण प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व से किया गया है।[33] पंचकल्प चूर्णि[34] के अनुसार निशीथ के निर्यूहक भद्रबाहु स्वामी हैं। आगमप्रभावक मुनि पुण्यविजयजी [35] का भी यही अभिमत है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चारों छेद सूत्रों के निर्यूहक भद्रबाहुस्वामी है।[36] किन्तु 'जीतकल्प' भद्रबाहुस्वामी की कृति नहीं है। उसके रचयिता जिनभद्रगणीक्षमाश्रमण हैं।[37] और महानिशीथ जो वर्तमान में उपलब्ध है वह आचार्य हरिभद्र के द्वारा पुनरुद्धार किया हुआ है।[38] महानिशीथ के सम्बन्ध में मैंने अपने ग्रन्थ "जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा" में विस्तार से उसकी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में चिन्तन किया है।[39] मैं पाठकों को उसे पढ़ने का सूचन

---

३०. समाचारी शतक-आगमस्थापनाधिकार
३१. नन्दीसूत्र-७७
३२. (क) दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति गाथा. १—पत्र. १
 (ख) पंचकल्प भाष्य गाथा ११
३३. निशीथ भाष्य ६५००
३४. पंचकल्प चूर्णि पत्र-१. लिखित
३५. बृहत्कल्प सूत्र भाग-६, प्रस्तावना पृ० २
३६. दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति गाथा-१
३७. जीतकल्प चूर्णि-गाथा ५-१०
३८. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास-भाग २-पृ० २९२
३९. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृष्ठ ४०७ से ४१०

करता हूँ। यह सत्य है कि महानिशीथ का मूल संस्करण दीमकों के द्वारा नष्ट हो जाने के पश्चात् वर्तमान में जो महानिशीथ उपलब्ध है वह महानिशीथ का नवीन संस्करण हैं। इस तरह चार मौलिक छेद सूत्र हैं, दशाश्रुतस्कंध, व्यवहार, बृहत्कल्प और निशीथ।

निर्यूहण कृतियों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर हैं और सूत्ररूप के रचयिता गणधर हैं और जिन आगमों पर जिनके नाम उट्टंकित हैं वे उसके सूत्र रचयिता है, जैसे दशवैकालिक के शय्यंभव, और छेद सूत्रों के रचयिता भद्रबाहु स्वामी हैं। पर अर्थ के प्ररूपक तो तीर्थंकर ही हैं।

व्यवहार सूत्र और उसके व्याख्या साहित्य का परिचय

छेद-सूत्रों में व्यवहार का विशिष्ट स्थान है, अन्य छेद-सूत्रों की भाँति प्रस्तुत आगम में भी श्रमणों की आचार-संहिता पर चिन्तन किया गया है। बृहत्कल्प और व्यवहार ये दोनों एक दूसरे के पूरक है। व्यवहार में दस उद्देशक हैं, ३७३ अनुष्टुप् श्लोक प्रमाण मूल-पाठ उपलब्ध होता है। २६७ सूत्र-संख्या है। व्यवहार सूत्र पर उसकी व्याख्या करने हेतु भद्रबाहु रचित निर्युक्ति प्राप्त होती है और साथ ही व्यवहार पर भाष्य भी प्राप्त होता है। उस भाष्य के रचयिता कौन है— इस सम्बन्ध में इतिहास तत्वविद् मनीषी निर्णय नहीं कर सके हैं। व्यवहार पर एक चूर्णि भी उपलब्ध होती है और साथ ही संस्कृत भाषा में व्यवहार पर एक वृत्ति भी मिलती है। इन सभी का संक्षेप में परिचय हम प्रस्तुत करेंगे, जिससे ज्ञात हो सकेगा कि व्यवहार सूत्र का कितना गहरा महत्त्व रहा है। जिस पर सभी व्याख्याकारों ने अपनी कलम चलाई है।

अन्तर दर्शन

व्यवहार सूत्र के दस उद्देशक हैं, उसमें प्रथम-उद्देशक में भिक्षु और भिक्षुणी के लिए त्यागने योग्य मूलगुण या उत्तरगुण के दोष का सेवन किया हो, जिसका प्रायश्चित्त एक मास की संज्ञा से अभिहित है। दोष लगने वाले श्रमण और श्रमणी को आचार्य आदि के समक्ष कपट रहित आलोचना करनी चाहिए। उसे एक मासिक प्रायश्चित्त आता है। जब कि कपट सहित आलोचना करने पर उसी दोष का द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है। जिसकी कपट रहित आलोचना करने पर द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है किन्तु उसी दोष की आलोचना कपट सहित करने से त्रिमासिक प्रायश्चित्त आता है। इस तरह अधिक से अधिक छः मास के प्रायश्चित्त का विधान है। जिस साधक ने अनेक दोषों का सेवन किया हो उस साधक को क्रमशः दोषों की आलोचना करनी चाहिए और प्रायश्चित्त लेकर उसका शुद्धीकरण करना चाहिए। प्रायश्चित्त

ग्रहण करते समय यदि पुनः दोष लग जाय तो उन दोषों को न छिपाये, किन्तु दोषों की आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण कर शुद्धीकरण करना चाहिए।

प्रायश्चित्त का सेवन करने वाले श्रमण को गुरुजनों की आज्ञा प्राप्त कर ही अन्य श्रमणों के साथ-उठना बैठना चाहिए। यदि वह गुरुजनों की आज्ञा की अवहेलना करता है तो उसे छेद प्रायश्चित्त दिया जाता है। परिहारकल्प में अवस्थित श्रमण आचार्य आदि की अनुमति से परिहारकल्प को छोड़कर स्थविर आदि की सेवा के लिए दूसरे स्थान पर जा सकता है।

यदि कोई श्रमण विशिष्ट साधना के लिए गण का परित्याग कर एकाकी विचरण करता है, पर वह अपने को शुद्ध आचार पालन करने में असमर्थ अनुभव करता हो तो उसे आलोचना कर छेद या नवीन दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

आलोचना आचार्य या उपाध्याय के समक्ष करके उस दोष का प्रायश्चित्त लेकर शुद्धीकरण करना चाहिए। उनकी अनुपस्थिति में अपने संभोगी साधर्मिक बहुश्रुत आदि के सामने आलोचना करनी चाहिए। यदि वे न हो तो अन्य समुदाय के संभोगी बहुश्रुत श्रमण के सामने आलोचना करनी चाहिए। यदि वह भी न हो तो सदोषी बहुश्रुत श्रमण हो तो वहाँ जाकर, उसके अभाव में बहुश्रुत श्रमणोपासक या सम्यक्दृष्टि श्रावक या उसके भी अभाव में ग्राम या नगर के बाहर पूर्व या उत्तर दिशा के सम्मुख खड़ा होकर अपने अपराध की आलोचना करे। जीवन विशुद्धि के लिए आलोचना अत्यधिक आवश्यक है।

द्वितीय उद्देशक में बताया है, जिसने दोष का सेवन किया हो उसे प्रायश्चित्त देना चाहिए। अनेक श्रमणों में से एक ने भी अपराध किया है तो उसे प्रायश्चित्त देना चाहिए। यदि सभी ने अपराध किया है तो एक के अतिरिक्त सभी प्रायश्चित्त लेकर पहले शुद्धीकरण करे और उन सभी का प्रायश्चित्त काल पूर्ण होने पर उसे भी प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करे।

परिहारकल्प स्थित श्रमण यदि व्याधि-ग्रस्त हो तो उसे गच्छ से बाहर निकालना सर्वथा अनुचित है। स्वस्थ होने पर उसे गणावच्छेदक से प्रायश्चित लेकर शुद्धीकरण करना चाहिए। इसीप्रकार अनवस्थाप्य और पारंचिक प्रायश्चित्त करने वाले को भी रुग्णावस्था में गच्छ से बाहर नहीं करना चाहिए। विक्षिप्त-चित्त और दीप्त चित्त की सेवा करनी चाहिए। और स्वस्थ होने पर प्रायश्चित्त देकर उसका शुद्धीकरण करना चाहिए। अनवस्थाप्य और पारंचिक के सम्बन्ध में भी चर्चा की गयी है, पारिहारिक और अपारिहारिक श्रमणों की मर्यादा निश्चित की गयी है।

तृतीय उद्देशक में श्रमण स्वतन्त्र और गच्छ का अधिपति बनकर विचरण करना चाहें तो उसे आचारांग आदि का परिज्ञाता होना आवश्यक है और साथ ही स्थविर की अनुमति भी। उपाध्याय वही बन सकता है जो कम से कम तीन वर्ष की दीक्षा पर्यायवाला हो, आगम का मर्मज्ञ हो, प्रायश्चित्त शास्त्र का पूर्ण ज्ञाता हो, चारित्रवान् और बहुश्रुत हो। आचार्य वही बन सकता है जो कम से कम पाँच वर्ष का दीक्षित हो, श्रमण की आचार-संहिता में कुशल हो, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प-बृहत्कल्प, व्यवहार आदि का ज्ञाता हो। अपवाद के रूप में एक दिन की दीक्षा पर्यायवाला भी आचार्य और उपाध्याय बन सकता है, पर उसके लिए प्रतीतिकारी, धैर्यशील, विश्वसनीय, समभावी प्रमोदकारी, अनुमत, बहुमत तथा गुणसम्पन्न होना अनिवार्य है।

चतुर्थ उद्देशक में आचार्य और उपाध्याय के साथ कम से कम एक और वर्षावास में दो साधु का होना आवश्यक है। आचार्य की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए उनके अभाव में कैसे रहना चाहिए और किस तरह आचार्य आदि पद पर प्रतिष्ठित करना चाहिए इस पर चिन्तन किया है।

पाँचवें उद्देशक में प्रवर्तिनी के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए वैय्यावृत्य पर विचार किया है।

छठे उद्देशक में अपने परिजनों के वहाँ पर जाने के लिए स्थविरों की अनुमति आवश्यक है। श्रमण और श्रमणी बहुश्रुत श्रमण-श्रमणी के साथ जाय, पर एकाकी नहीं। आचार्य, उपाध्याय उपाश्रय में आवें तो उनके पाँव पोंछकर साफ करना चाहिए, उनकी वैय्यावृत्य करनी चाहिए और उनके बाहर जाने पर उनके साथ जाना चाहिए आदि पर विस्तार से चर्चा है।

सातवें उद्देशक में श्रमण महिला को और श्रमणी पुरुष को दीक्षा न दें। यदि किसी को उत्कृष्ट वैराग्य भावना हो गयी हो तो इस शर्त पर कि दीक्षा देकर श्रमणी को श्रमणी-समुदाय की सेवा में पहुँचा दिया जाय और श्रमण को श्रमण-समुदाय की सेवा में। जहाँ पर दुष्ट व्यक्तियों की प्रधानता हो वहाँ श्रमणियों को विचरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि व्रतभंग आदि का भय रहता है। पर श्रमणों के लिए वह मर्यादा नहीं। आदि अनेक बातें हैं।

आठवें उद्देशक में श्रमणों के उपकरणों पर चिन्तन है। यदि किसी स्थान पर कोई श्रमण उपकरण भूल गया हो और अन्य श्रमण जहाँ पर उपकरण भूला है वह उस उपकरण को लेकर अपने स्थान पर आये और जिसका उपकरण हो उसे प्रदान करें, पर वह उपकरण यदि किसी सन्त का नहीं है तो उसका उपयोग न करें और निर्दोष स्थान पर परित्याग कर दें। इस उद्देशक

में आहार के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए बताया है कि आठ ग्रास का आहार करने वाला अल्पाहारी, बारह ग्रास का आहार करने वाला अपार्धावमौदरिक सोलह ग्रास का आहार करने वाला द्विभाग प्राप्त, चौवीस ग्रास का आहार करने वाला प्राप्तावमौदरिक, बत्तीस ग्रास का आहार करने वाला प्रमाणोपेताहारी और उससे एक ग्रास कम करके वाला अवमौदरिक कहलाता है।

नौवें उद्देशक में बताया है शय्यातर आदि का आहार श्रमण-श्रमणियों के लिए ग्राह्य नहीं है। साथ ही, श्रमण की द्वादश प्रतिमाओं के सम्बन्ध में भी वर्णन है।

दसवें उद्देशक में यवमध्य चन्द्रप्रतिमा तथा वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा के स्वरूप पर विश्लेषण करते हुए कहा है—जो जौ के कण के सदृश मध्य में मोटी हो और दोनों ओर पतली हो वह यवमध्यचन्द्र प्रतिमा है, जो वज्र के समान मध्य में पतली हो और दोनों ओर मोटी होती है वह वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा। यवमध्यचन्द्र प्रतिमा को जो श्रमण धारण करता है वही श्रमण एक महीने तक अपने तन की ममता को छोड़कर देव-मानव और तिर्यंच सम्बन्धी अनकूल और प्रतिकूल परीषहों को सहन करता है। उपसर्गों को सहन करते समय उसके अंतर्मानस में तनिक मात्र भी विषमता नहीं आती। वह शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एकदत्ती आहार की ग्रहण करता है। इस प्रकार पूर्णमासी तक पन्द्रहदत्ती आहार की और पन्द्रहदत्ती पानी की ग्रहण करता है। कृष्णपक्ष में क्रमशः एक दत्ती कम करता जाता है और अमावस्या के दिन उपवास करता है। इसे यवमध्यचन्द्र प्रतिमा कहते हैं।

वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा में कृष्णपक्ष की प्रपितदा को पन्द्रहदत्ती आहार की और पन्द्रहदत्ती पानी की ग्रहण की जाती है। और क्रमशः एक-एक दिन एक-एक दत्ती कम कर अमावस्या को एकदत्ती आहार और पानी ग्रहण करता है। और शुक्लपक्ष मे एक-एक दत्ती वढ़ाकर पूर्णमासी को उपवास करता है।

व्यवहार के आगम श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीतव्यवहार में पाँच प्रकार है। स्थविर के जातिस्थविर, श्रुतस्थविर और प्रव्रज्यास्थविर ये तीन प्रकार है। शैक्ष भूमियाँ तीन है—सप्तरात्रिन्दिनी, चातुर्मासिकी और षाण्मासिकी। आठ वर्ष से कम उम्र वाला को दीक्षा देना नहीं कल्पता।[४०] जिनकी उम्र बहुत छोटी है वे आचारांग सूत्र को पढ़ने के अधिकारी नहीं। कम से कम तीन वर्ष की दीक्षा पर्यायवाले श्रमण को आचारांग पढाना

४०. विनयपिटक में २० वर्ष से कम उम्रवाले व्यक्ति को दीक्षा नहीं देना, विनयपिटक-भिक्खुपातिमोक्खपाचित्तय, ६५. के साथ तुलना करने से उस युग की भिन्न विचारधाराओं का भी पता लगता है।

कल्पता है। चार वर्ष की दीक्षा पर्यायवाले को सूत्रकृतांग, पाँचवर्ष की दीक्षा पर्यायवाले को दशाश्रुतस्कन्ध, वृहत्कल्प और व्यवहार, आठ वर्ष की दीक्षा वाले को स्थानांग, समवायांग, दस वर्ष की दीक्षावाले को व्याख्याप्रज्ञप्ति, ग्यारह वर्षवाले को लघु विमान प्रविभक्ति, महाविमान-प्रविभक्ति, अंगचूलिका वंगचूलिका, विवाहचूलिका, वारह वर्ष की दीक्षावाले को अरुणोपपातिक, गरुलोपपातिक, धरणोपपातिक, वैश्रमणोपपातिक, वैलंधरोपपातिक, तेरह वर्ष की दीक्षावाले को उपस्थानश्रुत, समुपस्थानश्रुत, देवेन्द्रोपपात, नागपरयापनिका, चौदह वर्ष की दीक्षावाले को स्वप्नभावना, पन्द्रह वर्ष की दीक्षावाले को चारण भावना, सोलह वर्ष की दीक्षावाले को वेदनी शतक, सत्रह वर्ष की दीक्षा-वाले को आशीविपभावना, अठारह वर्ष की दीक्षा वाले को दृष्टिविपभावना, उन्नीस वर्ष की दीक्षावाले को दृष्टिवाद और वीस वर्ष की दीक्षावाले को सभी प्रकार के शास्त्र पढ़ना कल्पता है।

वैयावृत्य के दस प्रकार वताये हैं—(१) आचार्य (२) उपाध्याय, (३) स्थविर (४) तपस्वी (५) शैक्ष-छात्र (६) ग्लान-रुग्ण (७) साधर्मिक, (८) कुल (९) गण और (१०) संघ। इनकी सेवा करने से कर्मों की महान् निर्जरा होती है।

इस प्रकार प्रस्तुत आगम में अनेक विषयों पर गहराई से प्रकाश डाला गया है।

व्यवहार व्याख्या-सहित

मैं पूर्व ही लिख चुका हूँ कि व्यवहार श्रमण-जीवन की साधना का एक जीवन्त भाष्य है। आगम में जिन वातों पर चिन्तन किया गया है उन्हीं पर सर्वप्रथम प्राकृत भाषा में जो पद्यवद्ध टीकाएँ लिखी गयी हैं वे निर्युक्तियाँ है। निर्युक्तियों में मूल ग्रन्थ के प्रत्येक पद पर व्याख्या न कर पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की गयी है। निर्युक्तियों की व्याख्या निक्षेप पद्धति पर अवलंवित है। अनेक सम्भावित अर्थ को वताने के पश्चात् अप्रस्तुत अर्थ को छोड़कर प्रस्तुत पद को ग्रहण किया जाता है। आचार्य भद्रवाहु ने कहा—[४१] सूत्र अर्थ का निश्चित सम्वन्ध वताने वाली व्याख्या निर्युक्ति है।

---

४१. (क) सूत्रार्थयोःपरस्परं निर्योजनं सम्वन्धनं निर्युक्तिः ॥

—आवश्यक निर्युक्ति, गा० ८३

(ख) निश्चयेन अर्थप्रतिपादिका युक्ति निर्युक्तिः ॥

—आचारांग नि०. १/२/१

व्यवहार निर्युक्ति में भी उपसर्ग और अपवाद का विवेचन है। इस निर्युक्ति पर भाष्य भी है जो अधिक विस्तृत है। निर्युक्ति और भाष्य में यह अन्तर है कि निर्युक्तियों की व्याख्या शैली बहुत ही गूढ़ और संक्षिप्त है। निर्युक्तियों के गम्भीर रहस्यों को प्रकट करने के लिए विस्तार से निर्युक्तियों के सदृश ही प्राकृत भाषा में पद्यात्मक जो व्याख्याएँ लिखी गयीं है वे भाष्य के नाम से प्रसिद्ध हुई। भाष्य में सर्वप्रथम पीठिका में व्यवहार, व्यवहारी एवं व्यवहर्तव्य के स्वरूप की चर्चा की गयी है। व्यवहार में दोष लगने की दृष्टि से प्रायश्चित्त का अर्थ भेद, निमित्त, अध्ययनविशेष तदर्ह परिषद् आदि का विवेचन किया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए अनेक दृष्टान्त भी दिए हैं। भिक्षु, मास, परिहार, स्थान, प्रतिसेवना, आलोचना, आदि पदों पर निक्षेप दृष्टि से विचार किया है। आधाकर्म से सम्बन्धित अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार के लिए पृथक्-पृथक् प्रायश्चित्त का विधान है। मूलगुण और उत्तरगुण इन दोनों की विशुद्धि प्रायश्चित से होती है।

पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, तप, प्रतिमा और अभिग्रह ये सभी उत्तर-गुण हैं। इनके क्रमशः ४२, ८, २५, १२, १२ और ४ भेद होते हैं। प्रायश्चित्त करने वाले पुरुष के निर्गत और वर्तमान ये दो प्रकार हैं। जो तपार्ह प्रायश्चित्त से अतिक्रान्त हो गये हैं वे निर्गत हैं और जो विद्यमान हैं वे वर्तमान हैं। उनके भी भेद-प्रभेद किये गये हैं।

प्रायश्चित्त के योग्य चार प्रकार के हैं—

(१) **उभयतर**—जो स्वयं तप की साधना करता हुआ भी दूसरों की सेवा करता है। (२) **आत्मतर**—जो केवल तप ही कर सकता है। (३) **परतर**—जो केवल सेवा ही कर सकता है। (४) **अन्यतर**—जो तप और सेवा दोनों में से किसी एक समय में एक का ही सेवन कर सकता है।

आलोचना, आलोचनार्ह और आलोचक के विना नहीं होती। स्वयं आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, अपव्रीडक, प्रकुर्वी, निर्यापक, अपायदर्शी, और अपरिश्रावी इन गुणों से युक्त होता है। आलोचक भी जातिसम्पन्न, कुल-सम्पन्न, विनयसम्पन्न, ज्ञानसम्पन्न, दर्शनसम्पन्न, चारित्रसम्पन्न, शान्त, दान्त, अमायी, अपश्चात्तापी इन दस गुणों से युक्त होता है। आलोचना के दोष, तद्विषयभूत द्रव्य आदि प्रायश्चित्त देने की विधि आदि पर भाष्यकार ने विस्तार से प्रकाश डाला है।

परिहार तप का वर्णन करते हुए सुभद्रा और मेघावती का उदाहरण दिया है। आरोपणा के प्रस्थापनिका; स्थापिता, कृत्स्ना, अकृत्स्ना, हाड़हडा, ये पाँच

प्रकार बताये हैं। शिथिलता के कारण गच्छ का परित्याग कर पुनः गच्छ में सम्मिलित होने के लिए विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों का वर्णन है। पार्श्वस्थ, यथाछन्द, कुशील, अवसन्न और संसक्त के स्वरूप पर विचार चर्चा की है। क्षिप्तचित्त के राग, भय और अपमान ये तीन कारण हैं। दीप्तचित्त का कारण सम्मान है। क्षिप्तचित्तवाला मौन रहता है और दीप्तचित्तवाला बिना प्रयोजन के भी बोलता रहता है। भाष्यकार ने गणावच्छेदक, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, प्रवर्तिनी आदि की योग्यता पर भी चिन्तन किया है। आचार्य और उपाध्याय के अतिशय बताये हैं जिनका श्रमणों को विशेष लक्ष्य रखना चाहिए—(१) उनके बाहर जाने पर पैरों को साफ करना। (२) उनके उच्चार-प्रस्रवण को निर्दोष स्थान पर परठना। (३) उनकी इच्छानुसार वैय्यावृत्य करना (४) उनके साथ उपाश्रय के भीतर रहना (५) उनके साथ उपाश्रय के बाहर जाना।

वर्षावास के लिए वह स्थान श्रेष्ठ माना गया है जहाँ पर अधिक कीचड़ न होता हो। द्वीन्द्रियादि जीवों की बहुलता न हो, प्रासुक-भूमि हो, रहने योग्य दो-तीन बस्तियाँ हों, गो-रस की प्रचुरता हो, बहुत लोग रहते हों, वैद्य हों, औषधियाँ सरलता से प्राप्त हों, धान्य की प्रचुरता हो, राजा प्रजापालक हो, पाखण्डी कम हो, भिक्षा सुगम-रीति से प्राप्त होती हो, स्वाध्याय में किसी भी प्रकार से विघ्न न हो। जहाँ पर कुत्तों की अधिकता हो वहाँ पर नहीं रहना चाहिए, क्योंकि काटने आदि का भय रहता है।

भाष्य में आर्यरक्षित, आर्यकालक, राजा सातवाहन, प्रद्योत, मुरुण्ड, चाणक्य, किरातपुत्र, अवन्तीसुकुमाल, रौहिणेय, आर्यसमुद्र, आर्यमंगू आदि की अनेक कथाएँ आयी हैं। यह भाष्य अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं।

भाष्य के पश्चात् टीका साहित्य लिखा गया है। टीका साहित्य की भाषा मुख्य रूप से संस्कृत है। उन टीकाओं में आगमों का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि में जिन विषयों पर चर्चाएँ की गयी हैं, टीका में नये-नये हेतुओं द्वारा उन्हीं विषयों को और अधिक पुष्ट किया गया है।

टीकाकारों में आचार्य मलयगिरि का स्थान मूर्धन्य है और उन्होंने आगम ग्रन्थों पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखीं, जिनमें उनका गम्भीर पांडित्य स्पष्ट रूप से झलकता है। विषय की गहनता, भाषा की प्रांजलता,, शैली का लालित्य और विश्लेषण की स्पष्टता आदि उनकी विशेषताएँ हैं, उनके द्वारा व्यवहार पर वृत्ति लिखी गयी है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्राक्कथन के रूप में

पीठिका है जिसमें कल्प, व्यवहार, दोष, प्रायश्चित्त प्रभृति विषयों पर चिन्तन किया है। वृत्तिकार ने प्रारम्भ में अर्हत् अरिष्टनेमि को, अपने सद्गुरुवर्य तथा व्यवहार सूत्र के चूर्णिकार आदि को भक्तिभावना से विभोर होकर नमन किया है।

वृत्तिकार ने वृहत्कल्प और व्यवहार इन दोनों आगमों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा कि कल्पाध्ययन में प्रायश्चित्त का निरूपण है, किन्तु उसमें प्रायश्चित्त देने की विधि नहीं है जवकि व्यवहार में प्रायश्चित्त देने की और आलोचना करने की ये दोनों प्रकार की विधियाँ हैं। यह वृहत्कल्प से व्यवहार की विशेषता है। व्यवहार, व्यवहारी और व्यवहर्तव्य तीनों का विश्लेषण करते हुए लिखा है—व्यवहारी कर्ता रूप है, व्यवहार करणरूप है और व्यवहर्तव्य कार्यरूप है। करणरूपी व्यवहार आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत रूप से पाँच प्रकार का है। चूर्णिकार ने पाँचों प्रकार के व्यवहार को करण कहा है। भाष्यकार ने सूत्र, अर्थ, जीतकल्प, मार्ग, न्याय, एप्सितव्य आचरित और व्यवहार इनको एकार्थक माना है।

जो स्वयं व्यवहार के मर्म को जानता हो, अन्य व्यक्तियों को व्यवहार के स्वरूप को समझाने की क्षमता रखता हो वह गीतार्थ है। जो गीतार्थ है उनके लिए व्यवहार का उपयोग है। प्रायश्चित्त प्रदाता और प्रायश्चित्त संग्रहण करने वाला दोनों गीतार्थ होने चाहिए। प्रायश्चित्त के प्रतिसेवना, संयोजना, आरोपणा और परिकुंचना के चार अर्थ हैं। प्रतिसेवना रूप प्रायश्चित्त के दस भेद हैं, १. आलोचना २. प्रतिक्रमण ३. तदुभय ४. विवेक ५. उत्सर्ग ६. तप ७. छेद ८. मूल ९. अनवस्थाप्य और १० पारांचिक। इन दसों प्रायश्चित्तों के सम्बन्ध में विशेष रूप से विवेचन किया गया है। यदि हम इन प्रायश्चित्त के प्रकारों की तुलना विनयपिटक[४२] में आये हुए प्रायश्चित्त विधि के साथ करें तो आश्चर्य जनक समानता मिलेगी। प्रायश्चित्त प्रदान करनेवाला अधिकारी या आचार्य वहुश्रुत व गंभीर हो, यह आवश्यक है। प्रत्येक के सामने आलोचना का निषेध किया गया है। आलोचना और प्रायश्चित्त दोनों ही योग्य व्यक्ति के समक्ष होने चाहिए जिससे कि वह गोपनीय रह सके।

वौद्ध परम्परा में साधु समुदाय के सामने प्रायश्चित्त ग्रहण का विधान है। विनयपिटक में लिखा है—प्रत्येक महीने की कृष्ण चतुर्दशी और पूर्णमासी को सभी भिक्षु उपोसथागार में एकत्रित हो। तथागत बुद्ध ने अपना उत्तराधिकारी संघ को वताया है। अतः किसी प्राज्ञ भिक्षु को सभा के प्रमुख पद पर नियुक्त कर पातिमोक्ख का वाचन किया जाता है और प्रत्येक प्रकरण के उपसंहार में

---

४२. विनयपिटक निदान

यह जिज्ञासा व्यक्त की जाती है उपस्थित सभी भिक्षु उक्त बातों में शुद्ध हैं ? यदि कोई भिक्षु तत्सम्बन्धी अपने दोष की आलोचना करना चाहता है तो संघ उस पर चिन्तन करता है और उसकी शुद्धि करवाता है। द्वितीय और तृतीय बार भी उसी प्रश्न को दुहराया जाता है। सभी की स्वीकृति होने पर एक-एक प्रकरण आगे पढ़े जाते हैं। इसीतरह भिक्षुणियाँ भिक्खुनी पातिमोक्ख का वाचन करती हैं। यह सत्य है कि दोनों ही परम्पराओं की प्रायश्चित्त-विधियाँ पृथक्-पृथक् हैं। पर दोनों में मनोवैज्ञानिकता है। दोनों ही परम्पराओं में प्रायश्चित्त करनेवाले साधक के हृदय की पवित्रता, विचारों की सरलता अपेक्षित मानी है।

प्रथम उद्देशक में प्रतिसेवना के मूलप्रतिसेवना और उत्तरप्रतिसेवना ये दो प्रकार बताये हैं। मूल गुण अतिचार प्रतिसेवना प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह रूप पाँच प्रकार के हैं। उत्तर गुणातिचार प्रतिसेवना दस प्रकार की है। उत्तरगुण, अनागत अतिक्रान्त, कोटिसहित, नियंत्रित, साकार, अनाकार, परिमाणकृत, निरवशेष, सांकेतिक और अद्धा प्रत्याख्यान के रूप में हैं अपर शब्दों में उत्तर गुणों के पिण्डविशुद्धि, पाँच समिति, बाह्यतप, आभ्यन्तर तप,भिक्षु प्रतिमा, और अभिग्रह इस तरह दस प्रकार हैं। मूलगुणातिचार, प्रतिसेवना और उत्तर गुणातिचार प्रतिसेवना इनके भी दर्प्य और कल्प्य ये दो प्रकार हैं। विना कारण प्रतिसेवना दर्पिका है और कारणयुक्त प्रतिसेवना कल्पिका है। वृत्तिकार ने विषय को स्पष्ट करने के लिए स्थान-स्थान पर विवेचन प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत वृत्ति का ग्रन्थमान ३४६२५ श्लोक प्रमाण है।

वृत्ति के पश्चात् जनभाषा में सरल और सुबोध शैली में आगमों के शब्दार्थ करनेवाली संक्षिप्त टीकाएँ लिखी गई हैं जिनकी भाषा प्राचीन गुजराती राजस्थानी-मिश्रित है। यह बालावबोध व टब्बा के नाम से विश्रुत हैं। स्थानकवासी परम्परा के धर्मसिंह मुनि ने व्यवहार सूत्र पर भी टब्बा लिखा है। पर अभी तक वह अप्रकाशित ही है। आचार्य अमोलक ऋषिजी महाराज द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद सहित व्यवहार सूत्र प्रकाशित हुआ है। जीवराज घेलाभाई दोशी ने गुजराती में अनुवाद भी प्रकाशित किया है। शुब्रिंग लिपजिग ने जर्मन टिप्पणी के साथ सन् १९१८ में लिखा जिसको जैन साहित्य समिति, पूना से १९२३ में प्रकाशित किया है।

पूज्य घासीलाल जी महाराज ने छेदसूत्रों का प्रकाशन केवल संस्कृत टीका के साथ करवाया है।

हिन्दी भाषा में व्यवहार पर और अन्य छेदसूत्रों पर नवीन शैलीसे प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ।

प्रस्तुत संपादन

आगम मर्मज्ञ मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' ने अनेक आगमों का आधुनिक शैली से सम्पादन किया है। शब्दानुलक्षी अनुवाद और सम्पादन मन को लुभाने वाला और बुद्धि को नया आलोक देने वाला है। विशेषार्थ में अनेक निगूढ़ रहस्यों को निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और टीकाओं के आधार से संपादक मुनिवरने स्पष्ट करने का प्रयास किया है। मुनिश्रीजी का यह प्रयास छेद सूत्रों के अध्येताओं के लिए अतीव उपयोगी सिद्ध होगा। ऐसा मेरा मानना है।

पण्डित मुनिश्री जी वर्षों से आगम साहित्य के सम्पादन कार्य में लगे हुए हैं। अनुयोगों की दृष्टि से आगमों का वर्गीकरण भी आपने तैयार किया है जो बहुत ही श्रम साध्य कार्य है। गणितानुयोग प्रकाशित हो चुका है और अन्य अनुयोग भी प्रकाशनाधीन हैं। आपके सम्पादित स्थानांग, समवायांग प्रकाशित हुए हैं। जिसमें आपका गंभीर पाण्डित्य स्पष्ट झलक रहा है। प्रस्तुत आगम का सम्पादन विवेचन भी आपके गंभीर अध्ययन का पुनीत प्रतीक है। मैं आशा करता हूँ यदि इसी शैली में बत्तीस आगमों का सम्पादन आपके कर-कमलों के द्वारा हो तो एक महान कमी की पूर्ति होगी। इसी मंगल आशा के साथ।

जैन स्थानक, सिकन्दराबाद —देवेन्द्र मुनि शास्त्री
५-८-७९

□

अनुक्रमणिका

उद्देशक-सूची

व्यवहार सूत्र : विषय-सूची

षष्ठ उद्देशक

परिशिष्ट (कल्प वर्गीकरण) १८५-२०२

विषय वर्गीकृत सूत्र-सूची

सूत्र संख्या	विषय-निर्देश	उद्देशक	सूत्रांक
१	व्यवहार	१०	५
४०	शय्यातर	७	२२,२३
	"	८	६,७
	"	९	१-३६
१५	शय्या-संस्तारक	८	१-८
	"	८	६-१२
१	शैक्ष्य भूमियाँ	१०	१९
१	सर्पदंशोपचार	५	२१

✿ ✿

चरिम सयल-सुयणाणि-थविर-भद्दबाहु-पणीयं

ववहार-सुत्तं

व्यवहार सूत्र

पढमो उद्देसओ

परिहारस्थान प्रायश्चित्त-प्रकृतम्

सूत्र १

जे भिक्खू मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
अपलिउंचिय[1] आलोएमाणस्स मासियं,
पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं ॥१॥

प्रथम उद्देशक

परिहार-स्थान-प्रायश्चित्त प्रकरण

एक बार की गई प्रतिसेवना का प्रायश्चित्त

जो भिक्षु (या भिक्षुणी) एक बार मासिक-परिहार-स्थान की प्रतिसेवना करके (अतिचारों की) आलोचना करे तो आचार्यादि माया-रहित आलोचना करने वालों को एक मास का प्रायश्चित्त दे और माया-सहित आलोचना करने वाले को दो मास का प्रायश्चित्त दें।

विशेषार्थ—जिस भिक्षु या भिक्षुणी ने किसी ऐसे परिहारस्थान अर्थात् त्यागने योग्य मूलगुण या उत्तरगुण के अतिचार—दोष—का सेवन किया है, जिसका प्रायश्चित्त एक मास की संज्ञा से अभिहित हो वह "मासिक परिहार स्थान" कहा जाता है।

प्रतिसेवना के अनेक भेद हैं:—

यदि कोई भिक्षु या भिक्षुणी अकारण दोष का सेवन करे और साथ ही यह भी कहे कि 'केवल मैंने ही इस दोष का सेवन नहीं किया है अपितु अमुक ने भी किया है वह प्रायश्चित्त लेगा तो मैं भी लेउंगा। अथवा इस युग में या इस क्षेत्र में इस दोष का सेवन दोषरूप ही नहीं मानना चाहिए।' इत्यादि कथन

---

१ अपलिउंचियं।

करना—'दर्पिका प्रतिसेवना' है और यह कर्म-जननी है अर्थात् कर्मबंध करने वाली है।

यदि कोई भिक्षु या भिक्षुणी विशेष कारण से विवश होकर आगमोक्त यतनापूर्वक दोष-सेवन करे तो उसकी प्रतिसेवना 'कल्पिका प्रतिसेवना' है और यह कर्म-क्षयकारिणी है।

यदि कोई भिक्षु या भिक्षुणी अकारण दोष-सेवन तो नहीं करता किन्तु सकारण दोष-सेवन भी आगमोक्त यतनापूर्वक नहीं करता तो यह प्रति-सेवना कल्पिका होते हुए भी कर्म-जननी है।

यदि कोई भिक्षु या भिक्षुणी प्रारम्भ में किसी दोष का सेवन तीन करण तीन योग से भले ही न करे पर बाद में मन से भी अनुमोदन करे तो यह 'दर्पिका प्रतिसेवना' ही है।

प्रस्तुत सूत्र में केवल 'कल्पिका प्रतिसेवना' के प्रायश्चित्त का ही कथन है।

आलोचना तीन प्रकार की है : १. विहारालोचना, २. उपसम्पदालोचना, ३. अपराधालोचना।

इस सूत्र में केवल अपराधालोचना का कथन है। जैनागमों में 'आलोचना' शब्द पारिभाषिक है—इसका अर्थ है गुरु के समक्ष या आलोचना सुनने योग्य व्यक्ति के समक्ष अपने अपराध का कथन।

यदि कोई भिक्षु-भिक्षुणी मायारहित आलोचना करे और उसके लिए जो प्रायश्चित्त निश्चित है उससे एक मास अधिक प्रायश्चित्त माया-सहित आलो-चना करने वाले के लिए निश्चित है। यह एक सामान्य नियम है।

माया-रहित आलोचना करनेवाले को लघुमास प्रायश्चित्त दिया जाता है। और माया-सहित आलोचना करने वाले को गुरुमास प्रायश्चित्त दिया जाता है।

सूत्र २

जे भिक्खू दो-मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
अपलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं,
पलिउंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं ॥२॥

जो भिक्षु (या भिक्षुणी) एक बार द्वैमासिक परिहारस्थान की प्रति-सेवना करके (अतिचारों की) आलोचना करे तो **आचार्यादि** माया-रहित आलोचना करने वाले को द्वैमासिक प्रायश्चित दें और माया-सहित आलोचना करने वाले को त्रैमासिक प्रायश्चित्त दें।

सूत्र ३

जे भिक्खू ते मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
अपलिउंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं,
पलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं ॥३॥

जो भिक्षु (या भिक्षुणी) एक बार त्रैमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके (अतिचारों की) आलोचना करे तो आचार्यादि माया-रहित आलोचना करने वाले को त्रैमासिक प्रायश्चित्त दें और माया-सहित आलोचना करने वाले को चातुर्मासिक प्रायश्चित्त दें।

सूत्र ४

जे भिक्खू चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं,
पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं ॥४॥

जो भिक्षु (या भिक्षुणी) एक वार चातुर्मासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके (अतिचारों की) आलोचना करे तो आचार्यादि मायारहित आलोचना करने वाले को चातुर्मासिक प्रायश्चित्त दें और और मायासहित आलोचना करने वाले को पंचमासिक प्रायश्चित्त दें।

सूत्र ५

जे भिक्खू पंचमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
अपलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं,
पलिउंचिय आलोएमाणस्स छम्मासियं।
तेण परं पलिउंचिय वा अपलिउंचिय वा चेव छम्मासा ॥५॥

जो भिक्षु (या भिक्षुणी) एक वार पंचमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके (अतिचारों की) आलोचना करे तो आचार्यादि मायारहित आलोचना करनेवाले को पंचमासिक प्रायश्चित्त दें और मायासहित आलोचना करने वाले को पाण्मासिक प्रायश्चित्त दें।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने वाले को वही पाण्मासिक प्रायश्चित्त दें।

विशेषार्थ—जिस तीर्थंकर के शासन में जितना तप उत्कृष्ट माना जाता है उस तीर्थंकर के शासन में भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों को उतने ही उत्कृष्ट तप का उत्कृष्ट प्रायश्चित्त दिया जाता है। यह जीतकल्प है।

प्रथम तीर्थंकर के तीर्थ में उत्कृष्ट तप एक संवत्सर का होता है। द्वितीय

से लेकर तेईसवें तीर्थंकर के तीर्थ में उत्कृष्ट तप आठ मास का होता है और अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के शासन में उत्कृष्ट तप छः मास का है, अतः यहाँ उत्कृष्ट प्रायश्चित्त छ मास का ही देने का विधान है।

इन पांच सूत्रों में एक बार प्रतिसेवना करने वाले अगीतार्थ को जितना प्रायश्चित्त देने का विधान है उतना ही प्रायश्चित्त अनेक बार प्रतिसेवना करने वाले गीतार्थ को देने का विधान आगे के ५ सूत्रों में है।

सूत्र ६

जे भिक्खू बहुसो वि मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं,
पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं ॥६॥

अनेक वार की गई प्रतिसेवना का प्रायश्चित्त

जो भिक्षु (या भिक्षुणी) अनेक वार मासिक परिहार स्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो आचार्यादि मायारहित आलोचना करने वाले को एक मास का प्रायश्चित्त दें और मायासहित आलोचना करने वाले को द्वैमासिक प्रायश्चित्त दें।

सूत्र ७

जे भिक्खू बहुसो वि दो-मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
अपलिउंचिय आलोएमाणस्स दो मासियं,
पलिउंचिय आलोएमाणस्स ते मासियं ॥७॥

जो भिक्षु (या भिक्षुणी) अनेकवार द्वैमासिक परिहार स्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो आचार्यादि मायारहित आलोचना करने वाले को द्वैमासिक प्रायश्चित्त दें और मायासहित आलोचना करने वाले को त्रैमासिक प्रायश्चित्त दें।

सूत्र ८

जे भिक्खू बहुसो वि ते-मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
अपलिउंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं,
पलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं ॥८॥

जो भिक्षु या (भिक्षुणी) अनेक वार त्रैमासिक परिहार स्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो आचार्यादि मायारहित आलोचना करने वाले को त्रैमासिक प्रायश्चित्त दें और मायासहित आलोचना करने वाले को चातुर्मासिक प्रायश्चित्त दें।

सूत्र ९

जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं,
पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं ॥९॥

जो भिक्षु (या भिक्षुणी) अनेक बार चातुर्मासिक परिहार स्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो आचार्यादि मायारहित आलोचना करने वाले को चातुर्मासिक प्रायश्चित्त दें और मायासहित आलोचना करने वाले को पंचमासिक प्रायश्चित दे।

सूत्र १०

जे भिक्खू बहुसो वि पंचमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
अपलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं,
पलिउंचिय आलोएमाणस्स छम्मासियं।
तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥१०॥

जो भिक्षु (या भिक्षुणी) अनेक बार पंचमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो आचार्यादि माया रहित आलोचना करने वाले को पंचमासिक प्रायश्चित्त दें और माया सहित आलोचना करने वाले को पाण्मासिक प्रायश्चित्त दें।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने वाले को वही पाण्मासिक प्रायश्चित्त दें।

सूत्र ११

जे भिक्खू मासियं वा, दो मासियं वा, ते मासियं वा, चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा।
एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं वा, दोमासियं वा, तेमासियं वा, चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा।
पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं वा, तेमासियं वा, चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, छम्मासियं वा।
तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥११॥

एक वार की गई प्रतिसेवना का संयुक्त प्रायश्चित्त

जो भिक्षु (या भिक्षुणी) मासिक, द्वैमासिक, त्रैमासिक चातुर्मासिक या पांचमासिक—इन परिहार स्थानों में से किसी एक परिहार स्थान की एक वार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो आचार्यादि मायारहित आलोचना

करने वाले को आसेवित परिहार स्थान के अनुसार द्वैमासिक, त्रैमासिक चातु-र्मासिक या पांचमासिक प्रायश्चित्त दें। और मायासहित आलोचना करने वाले को आसेवित परिहार स्थान के अनुसार द्वैमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक पांचमासिक या पाण्मासिक प्रायश्चित्त दें।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने वाले को वही पाण्मासिक प्रायश्चित्त दें।

सूत्र १२

जे भिक्खू बहुसो वि मासियं वा, बहुसो वि दोमासियं वा, बहुसो वि ते मासियं वा, बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि पंचमासियं वा।
एएसिं परिहार-ट्ठाणाणं अन्नयरं परिहार-ट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं वा, दो मासियं वा, ते मासियं वा, चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा।
पलिउंचिय आलोएमाणस्स दो मासियं वा, ते मासियं वा, चाउम्मासियं वा पंचमासियं वा, छम्मासियं वा।
तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥१२॥

अनेक वार की गई प्रतिसेवा का संयुक्त प्रायश्चित्त

जो भिक्षु (या भिक्षुणी) मासिक, द्वैमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक या पांचमासिक—इन परिहारस्थानों में से किसी एक पारिहारिक स्थान की अनेकवार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो आचार्यादि मायारहित आलोचना करने वाले को आसेवित परिहार स्थान के अनुसार मासिक, द्वैमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक या पांचमासिक प्रायश्चित्त दें। और मायासहित आलोचना करने वाले को आसेवित परिहार स्थान के अनुसार मासिक, द्वैमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक, पांचमासिक या षाण्मासिक प्रायश्चित्त दें

इसके उपरान्त मायारहित या मायासहित आलोचना करने वाले को वही पाण्मासिक प्रायश्चित्त दें।

सूत्र १३

जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा
पंच-मासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा
एएसिं परिहार-ट्ठाणाणं अन्नयरं परिहार-ट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा पचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा;

पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा, छम्मासियं वा।
तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥१३॥

एक बार कुछ अधिक की गई प्रतिसेवना का प्रायश्चित्त

जो भिक्षु (या भिक्षुणी) चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंच मासिक या कुछ अधिक पंचमासिक—इन पारिहारिक स्थानों में से किसी एक पारिहारिक स्थान की एक वार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो आचार्यादि मायारहित आलोचना करने वाले को आसेवित परिहार स्थान के अनुसार चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक या कुछ अधिक पंच-मासिक प्रायश्चित्त दें। और मायासहित आलोचना करने वाले को आसेवित परिहारस्थान के अनुसार पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक या पाण्मासिक प्रायश्चित्त दें।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने वाले को पाण्मासिक प्रायश्चित्त ही दें।

विशेषार्थ—भाष्यकार ने "परिहार" के दो अर्थ किये हैं—प्रथम अर्थ है—परित्याग करना और द्वितीय अर्थ है—धारण करना।

गुरु प्रदत्त दण्ड "प्रायश्चित्त" कहा जाता है। अपराध के अनुसार गुरुमास और लघुमास आदि अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त है। ये सब "परिहार तप" कहे जाते हैं। द्वितीय अर्थ के अनुसार ये तप परिहार (धारण) किये जाते हैं।

मूलगुण या उत्तरगुणों के अतिचारों का प्रमादवश आचरण करना "प्रतिसेवना" है—इसका अर्थ है संयम-विराधना। ये प्रतिसेवनायें अतिचारों के अनुसार अनेक प्रकार की हैं। इन सब प्रतिसेवनाओं को "परिहार स्थान" कहा जाता है अर्थात् ये सब परिहार (त्यागने) योग्य हैं।

परिहार तप के आराधक को वैयावृत्य का विधान तथा एक वार और अनेकवार प्रतिसेवित प्रतिसेवना का प्रायश्चित्त करते हुए की गई प्रतिसेवना का प्रायश्चित्त।

सूत्र १४

जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइरेग-चाउम्मासियं वा
बहुसो वि पंचमासियं वा, बहुसो वि साइरेग-पंचमासियं वा
एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा,
पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा।

पलिउंचिए आलोएमाणस्स पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा छम्मासियं वा।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥१४॥

जो भिक्षु (या भिक्षुणी) चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक—इन परिहार स्थानों में से किसी एक परिहार स्थान की एक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो आचर्यादि को चाहिए कि मायारहित आलोचना करने वाले को आसेवित प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित करे और उसका किसी अन्य भिक्षु से वैयावृत्य करावे।

यदि वह परिहार तप में स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका प्रायश्चित्त भी पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देवे।

आलोचना चतुर्भंगी

१ पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना करना,

२ पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना करना,

३ पीछे से प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना करना,

४ पीछे से प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना करना,

आलोचक चतुर्भंगी

१ मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना करने वाला।

२ मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना करने वाला।

३ मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना करने वाला।

४ मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना करने वाला।

इनमें से मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके जिसने मायारहित ही आलोचना की है। उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त को आचार्यादि पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देवें। और प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित होकर निकलते हुए—अर्थात् परिहार तप को पूर्ण करते हुए जिसने प्रमादवश यदि किसी प्रकार की प्रतिसेवना की हो तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में आरोपित कर देवें।

सूत्र १५

जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा,
पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा,
एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
अपलिउंचिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता । करणिज्जं वेयावडियं;
ठविए वि पडिसेवित्ता, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ।

१ पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं,
२ पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं,
३ पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं
४ पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं ।

× × ×

१ अपलिउंचिए अपलिउंचियं
२ अपलिउंचिए पलिउंचियं
३ पलिउंचिए अपलिउंचियं
४ पलिउंचिए पलिउंचियं

अपलिउंचिए अपलिउंचियं आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणियं;
जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ,
से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ॥१५॥

जो भिक्षु (या भिक्षुणी) चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंच-मासिक या कुछ अधिक पंचमासिक—इन परिहारस्थानों में से किसी एक परिहारस्थान की एक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो आचार्यादि को चाहिए कि मायासहित आलोचना करने वाले को आसेवित प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित करे और उसकी किसी अन्य भिक्षु से वैयावृत्य करावे ।

यदि वह परिहार तप में स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रति-सेवना करे तो उसका प्रायश्चित्त भी पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देवे ।

आलोचना चतुर्भंगी

१ पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना करना,
२ पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना करना,
३ पीछे से प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना करना,
४ पीछे से प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना करना,

आलोचक चतुर्भंगी

१ मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना करने वाला,

२ मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना करने वाला,

३ मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना करने वाला,

४ मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना करने वाला।

इनमें से मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके जिसने माया सहित ही आलोचना की है उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त को पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देवें और प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित होकर निकलते हुए अर्थात् परिहार तप को पूर्ण करते हुए, जिसने प्रमादवश यदि किसी प्रकार की प्रतिसेवना की हो तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में आरोपित कर देवें।

सूत्र १६

जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा
पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा
एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
पलिउंचिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं।
ठविए वि पडिसेवित्ता, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१ पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं
२ पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं
३ पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं
४ पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं

× × ×

१ अपलिउंचिए अपलिउंचियं
२ अपलिउंचिए पलिउंचियं
३ पलिउंचिए अपलिउंचियं
४ पलिउंचिए पलिउंचियं

पलिउंचिए पलिउंचियं आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणियं;
जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ
से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ॥१६॥

जो भिक्षु (या भिक्षुणी) चातुर्मासिक कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचामासिक कुछ अधिक पंचमासिक—इन परिहारस्थानों में से किसी एक परिहार स्थान की अनेकवार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो आचार्यादि को चाहिए कि मायारहित आलोचना करने वाले को आसेवित प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित करे और उसकी किसी अन्य भिक्षु से वैयावृत्य करावे।

यदि वह परिहार तप में स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका प्रायश्चित्त भी पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देवे।

आलोचना चतुर्भंगी

१ पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना करना,
२ पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना करना,
३ पीछे से प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना करना,
४ पीछे से प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना करना,

आलोचक चतुर्भंगी

१ मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना करने वाला,

२ मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना करने वाला,

३ मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना करने वाला,

४ मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना करने वाला।

इसमें से मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके जिसने माया सहित ही आलोचना की है, उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त को पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देवें और प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित होकर निकलते हुए (अर्थात् परिहार तप को पूर्ण करते हुए) जिसने प्रमादवश यदि किसी प्रकार की प्रतिसेवना की हो तो उसका प्रायश्चित्त पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में आरोपित कर देवें।

सूत्र १७

जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइरेग-चाउम्मासियं वा बहुसो वि पंचमासियं वा, बहुसो वि साइरेग-पंचमासियं वा

एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
अपलिउंचिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ।
ठाविए वि पडिसेवित्ता से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ।

१ पुव्वि पडिसेवियं पुव्वि आलोइयं
२ पुव्वि पडिसेवियं पच्छा आलोइयं
३ पच्छा पडिसेवियं पुव्वि आलोइयं
४ पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं

× × ×

१ अपलिउंचिए अपलिउंचियं
२ अपलिउंचिए पलिउंचियं
३ पलिउंचिए अपलिउंचियं
४ पलिउंचिए पलिउंचियं

अपलिउंचिए अपलिउंचियं आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय,
जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ
से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ॥१७॥

जो भिक्षु (या भिक्षुणी) चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंच-मासिक या कुछ अधिक पंचमासिक—इन परिहारस्थानों में से किसी एक परिहार स्थान की अनेकबार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो आचार्यादि को चाहिए कि मायारहित आलोचना करने वाले को आसेवित प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित करे और उसकी किसी अन्य भिक्षु से वैयावृत्य करावे ।

यदि वह परिहार तप में स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका प्रायश्चित्त भी पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देवें ।

आलोचना चतुर्भंगी

१ पूर्व में प्रतिसेवित दोप की पहले आलोचना करना,
२ पूर्व में प्रतिसेवित दोप की पीछे आलोचना करना,
३ पीछे से प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना करना,
४ पीछे से प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना करना,

आलोचक चतुर्भंगी

१ मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना करने वाला,

२ मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना करने वाला,

३ मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके माया रहित आलोचना करने वाला,

४ मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना करने वाला,

इनमें से मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके जिसने माया रहित ही आलोचना की है उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त को आचार्यादि पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देवें। और प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित होकर निकलते हुए (अर्थात् परिहार तप को पूर्ण करते हुए) जिसने प्रमादवश यदि किसी प्रकार की प्रतिसेवना की हो तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में आरोपित कर देवें।

सूत्र १८

जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइरेग-चाउम्मासियं वा
बहुसो वि पंचमासियं वा, बहुसो वि साइरेग-पंचमासियं वा
एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
पलिउंचिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं।
ठविए वि पडिसेवित्ता से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१ पुव्वि पडिसेवियं पुव्वि आलोइयं
२ पुव्वि पडिसेवियं पच्छा आलोइयं
३ पच्छा पडिसेवियं पुव्वि आलोइयं
४ पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं

× × ×

१ अपलिउंचिए अपलिउंचियं
२ अपलिउंचिए पलिउंचियं
३ पलिउंचिए अपलिउंचियं
४ पलिउंचिए पलिउंचियं

पलिउंचिए पलिउंचियं आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणियं,
जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ॥१८॥

जो भिक्षु (या भिक्षुणी) चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक इन परिहार स्थानों में से किसी एक परिहार स्थान की अनेक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो आचार्यादि को

चाहिए कि **माया सहित** आलोचना करने वाले को आसेवित प्रतिसेवना के अनुसार परिहार तप में स्थापित करे और उसकी किसी अन्य भिक्षु से वैयावृत्य करावे।

यदि वह परिहार तप में स्थापित होने पर भी यदि किसी प्रकार की प्रतिसेवना का सेवन करे तो उसका प्रायश्चित्त भी पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देवे।

आलोचना चतुर्भंगी

१ पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना करना,
२ पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना करना,
३ पीछे प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना करना,
४ पीछे से प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना करना,

आलोचक चतुर्भंगी

१ मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना करने वाला,

२ मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना करने वाला,

३ मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना करने वाला,

४ मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना करने वाला।

इनमें से **मायासहित** आलोचना करने का संकल्प करके जिसने माया सहित ही आलोचना की है उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त को पूर्व प्रदत्त में सम्मिलित कर देवें और प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित होकर निकलते हुए (अर्थात् परिहार तप को पूर्ण करते हुए) जिसने प्रमादवश यदि किसी प्रकार की प्रतिसेवना का सेवन किया हो तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में आरोपित कर देवें।

विशेषार्थ—सूत्र १५, १६, १७ और १८ इन चार सूत्रों में परिहार स्थानों का प्रायश्चित्त देने की विधि का वर्णन है।

परिहार तप करने वाले भिक्षु को "पारिहारिक" और उसकी वैयावृत्य करने वाले भिक्षु को "अनुपारिहारिक" कहा जाता है।

प्रायश्चित्त देने वाले आचार्यादि को "कल्पस्थित" या "कल्पाक" कहा जाता है।

प्रायश्चित्त विधि

आचार्य अपने साथ विहरण करने वाले सभी भिक्षुओं को एकत्रित करके उनके मध्य में अपराधी भिक्षु को खड़ा करके कहें कि "इस भिक्षु ने अमुक अपराध किया है अतः इसे इतने मास के परिहार तप का प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसका परिहार तप निर्विघ्न सम्पन्न हो इसके लिए उपस्थित भिक्षुगण और यह भिक्षु कायोत्सर्ग करे।

कायोत्सर्ग की समाप्ति के बाद आचार्य उस भिक्षु से इस प्रकार कहे—

जब तक तुम इस प्रायश्चित्त तप का वहन कर रहे हो तब तक मैं तुम्हारा "कल्पाक" (व्यवस्थापक) हूं और तुम "पारिहारिक" हो अर्थात् संघ के सभी भिक्षुओं से तुम्हारा सम्बन्ध विच्छेद कर दिया गया है। तुम अब किसी भिक्षु से संभाषण न करना, किसी भिक्षु को आहारादि का आदान-प्रदान न करना और न किसी भिक्षु के साथ उठना-बैठना।

संघ के सभी भिक्षु आज से प्रायश्चित्त तप की समाप्ति तक न तुम्हारे साथ सम्भाषण करेंगे और न तुम्हारे साथ बैठेंगे-उठेंगे। केवल मैं तुम्हें आगम-वाचना आदि कराऊँगा, अन्य आवश्यक कार्यों में भी उचित सहयोग देऊँगा और इस भिक्षु को तुम्हारी वैयावृत्य के लिए नियुक्त कर रहा हूं; यह तुम्हें आहारादि लाकर देगा और आसन, शयन आदि की व्यवस्था करके तुम्हारी वैयावृत्य भी करेगा।'

परिहार तप की आराधना करते समय यदि उस पारिहारिक भिक्षु से प्रमादवश किसी प्रकार की प्रतिसेवना (संयम-विराधना) एक बार या अनेक बार हो जाए तो वह अपने कल्पाक आचार्य के सम्मुख उपस्थित होकर आलोचना करे।

आलोचना और आलोचक की चतुर्भंगी इन पूर्वोक्त सूत्रों में है—

मायारहित या मायासहित की गई आलोचना के अनुसार जो प्रायश्चित्त उस पारिहारिक भिक्षु के लिए आगमों में विहित है—आचार्य उसे बतावें और पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में आरोपित (सम्मिलित) कर देवें। पारिहारिक भी उस आरोपित परिहार तप की आराधना आगमानुसार करे।

सूत्र एक से पांचवें तक—पांच सूत्रों में तथा ग्यारहवें एवं तेरहवें सूत्र में एक बार की गई प्रतिसेवना के प्रायश्चित्तों का और सूत्र छह से दशवें तक पांच सूत्रों में तथा बारहवें एवं चौदहवें सूत्र में अनेक बार की गई प्रतिसेवनाओं के प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है।

निशीथ उद्देशक २० के सूत्र १ से १४, इन सूत्रों के समान है।

सूत्र १५ से १८ तक चार सूत्रों में चातुर्मासिक पंचमासिक और षाण्मासिक प्रायश्चित्तों का विधान है। किन्तु एकमासिक, द्वैमासिक और त्रैमासिक प्रायश्चित्तों का विधान नहीं है।

निशीथ उद्देशक २० के सूत्र १५ से १८ तक में........एकमासिक से लेकर षाण्मासिक तक सभी प्रायश्चित्तों का विधान है। इन विधान भेदों का मूल आधार....अन्वेषणीय है।

प्रायश्चित्त के लिए स्वीकृत परिहार तप का वहन करते समय प्रमादवश जो प्रतिसेवनाएँ हो जाती हैं—उनमें से किस प्रतिसेवना के कितने प्रायश्चित्त दिन पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में आरोपित (सम्मिलित) किए जावें—इनका विस्तृत विवरण निशीथ-उद्देशक २० के सूत्र १९ से लेकर ५१ पर्यन्त में है।

कुछ विद्वानों की धारणा यह है कि व्यवहार सूत्र के प्रथम उद्देशक के सूत्र १ से १९ पर्यन्त सूत्रों का ही विस्तृत रूप निशीथ उद्देशक २० के सूत्र एक से इकावन तक में है।

सूत्र १९

बहवे पारिहारिया बहवे अपारिहारिया—
इच्छेज्जा एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए,
नो से कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए।
कप्पइ णं थेरे आपुच्छित्ता एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए।
थेरा य णं से वियरेज्जा,
एवं णं कप्पइ एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए।
थेरा य णं से नो वियरेज्जा,
एवं णं नो कप्पइ एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए।
जो णं थेरेहिं अविइण्णे[1] अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेएइ,
से संतराछेए वा परिहारे वा ॥१९॥

पारिहारिक और अपारिहारिक भिक्षुओं का पारस्परिक व्यवहार

अनेक पारिहारिक (प्रायश्चित्त सहित) भिक्षु और अनेक अपारिहारिक (प्रायश्चित्त रहित) भिक्षु यदि एक साथ रहना या बैठना चाहें तो स्थविर भिक्षु को पूछे बिना एक साथ रहना या एक साथ बैठना कल्पता नहीं है।

---

१ अविदिन्ने एगयओ अभि०।

स्थविर भिक्षु को पूछ करके ही वे एक साथ रह सकते हैं या बैठ सकते हैं।

यदि स्थविर भिक्षु आज्ञा दें कि—"एक साथ रहो, बैठो या विचरो" तो उन्हें साथ रहना बैठना या विचरना कल्पता है।

यदि स्थविर भिक्षु आज्ञा न दें तो उन्हें साथ रहना बैठना या विचरना नहीं कल्पता है।

यदि स्थविर की आज्ञा के विना वे (पारिहारिक और अपरिहारिक) जितने दिन एक साथ रहें बैठें या विचरें तो उन्हें उतने ही दिनों की दीक्षा का छेद या परिहार तप का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

सूत्र २०

परिहार-कप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा;
थेरा य से सरेज्जा
कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए।
जं णं जं णं दिसं अन्ने साहम्मिया विहरंति
तं णं तं णं दिसं उवलित्तए।
नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए।
कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए।
तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा—
"वसाहि अज्जो! एगरायं वा दुरायं वा"
एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए।
नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।
जे णं तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ,
से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥२०॥

प्रायश्चित्त काल में वैयावृत्य हेतु विहार

परिहार कल्प में स्थित भिक्षु[1] (स्थविर की आज्ञा से) अन्यत्र किसी रुग्ण स्थविर की वैयावृत्य (सेवा) के लिए जावे—उस समय स्थविर उसे स्मरण दिलाएँ कि—हे भिक्षु! तुम परिहार तप रूप प्रायश्चित्त कर रहे हो अतः "विश्राम के लिए जहाँ मुझे ठहरना पड़ेगा वहाँ मैं एक रात से अधिक नहीं ठहरूंगा" ऐसी प्रतिज्ञा करो और जिस दिशा में रुग्ण भिक्षु है उस दिशा में जाओ। मार्ग में विश्राम के लिए तुम्हें एक रात्रि ठहरना ही कल्पता है किन्तु एक रात से अधिक ठहरना नहीं कल्पता है।

---

१ परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त करने में संलग्न भिक्षु।

रोगादि के कारण अनेक रात रहना भी कल्पता है। कारण के समाप्त होने पर भी यदि कोई भिक्षु कहे कि—"हे आर्य ! तुम यहां एक-दो रात और वसो" तो एक-दो रात और रहना कल्पता है किन्तु वाद में उसे वहाँ एक-दो रात और रहना नहीं कल्पता है।

यदि वाद में भी वह वहाँ रहे तो "जितने दिन-रात वह वहाँ रहे आचार्यादि उसे उतने ही दिन की दीक्षा का छेद या परिहार तप का प्रायश्चित्त दें।"

सूत्र २१

परिहार कप्पट्ठिए भिक्खू वहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा,
थेरा य से नो सरेज्जा
कप्पइ से निव्विसमाणस्स एगराइयाए पडिमाए
जं णं जं णं दिसिं अन्ने साहम्मिया विहरंति
तं णं तं णं दिसिं उवलित्तए।
नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए।
कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए।
तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा :—
"वसाहि अज्जो ! एगरायं वा दुरायं वा।"
एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए।
नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।
जे तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ,
से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥२१॥

परिहार कल्प-स्थित भिक्षु (स्थविर की आज्ञा से) अन्यत्र किसी रुग्ण भिक्षु की वैयावृत्य के लिए जावे—उस समय यदि स्थविर किसी कारणवश उसे स्मरण न दिला सके तो भी वह भिक्षु—"मार्ग में विश्राम के लिए जहाँ मुझे ठहरना पड़ेगा वहाँ मैं एक रात से अधिक नहीं ठहरूँगा"—ऐसी प्रतिज्ञा करके जिस दिशा में रुग्ण स्थविर है उस दिशा में जावे।

मार्ग में विश्राम के लिए उसे एक रात रहना कल्पता है, किन्तु एक रात से अधिक रहना नहीं कल्पता है।

रोगादि के कारण अनेक रात रहना भी कल्पता है।

कारण के समाप्त हो जाने पर भी यदि कोई भिक्षु कहे कि "हे आर्य ! तुम यहाँ एक-दो रात और रहो" तो उसे वहाँ एक-दो रात और रहना कल्पता है। किन्तु वाद में उसे वहाँ एक-दो रात और रहना नहीं कल्पता है।

यदि वाद में भी वह वहाँ रहे तो—"जितने दिन-रात वह वहाँ रहे आचार्यादि उसे उतने ही दिन की दीक्षा का छेद या परिहार तप का प्रायश्चित्त दें।"

सूत्र २२

परिहार-कप्पट्ठिए भिक्खू वहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा;
थेरा य से सरेज्जा वा, नो सरेज्जा वा
कप्पइ से निव्विसमाणस्स एगराइयाए पडिमाए
जं णं जं णं दिसं अन्ने साहम्मिया विहरंति।
तं णं तं णं दिसं उवलित्तए।
नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए।
कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए।
तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा—
"वसाहि अज्जो! एगरायं वा, दुरायं वा"।
एवं से कप्पइ एगरायं वा, दुरायं वा वत्थए।
नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा, दुरायाओ वा वत्थए।
जे तत्थ परं एगरायाओ वा, दुरायाओ वा वसइ,
से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥२२॥

परिहारकल्प-स्थित भिक्षु (स्थविर की आज्ञा से) अन्यत्र किसी रुग्ण स्थविर की वैयावृत्य के लिए जावे—उस समय स्थविर उसे (किसी कारणवश) स्मरण दिलावे या न दिलावे तो भी वह भिक्षु—"मार्ग में विश्राम के लिए जहाँ मुझे ठहरना पड़ेगा वहाँ मैं एक रात से अधिक नहीं ठहरूँगा"—ऐसी प्रतिज्ञा करके जिस दिशा में रुग्ण स्थविर है उस दिशा में जावे।

मार्ग में विश्राम के लिए उसे एक रात रहना कल्पता है किन्तु एक रात से अधिक रहना नहीं कल्पता है।

रोगादि के कारण अनेक रात रहना भी कल्पता है।

कारण के समाप्त होने पर भी यदि कोई भिक्षु कहे कि—"हे आर्य! तुम यहाँ एक-दो रात और रहो" तो उसे वहाँ एक-दो रात रहना और कल्पता है किन्तु बाद में उसे वहाँ एक-दो रात और रहना नहीं कल्पता है।

यदि वाद में भी वह वहाँ रहे तो—"जितने दिन-रात वह वहाँ रहे आचार्यादि उसे उतने ही दिन की दीक्षा का छेद या परिहार-तप का प्रायश्चित्त दें।"

एकाकीविहार-प्रतिमा-प्रायश्चित्त-प्रकृतम्—

सूत्र २३

जे भिक्खू गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिमं उपसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा,
से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।
पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा,
पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा ॥२३॥

एकाकी विहार-प्रतिमा प्रायश्चित्त

जो भिक्षु (आठ गुण वाला[1]—जघन्य दस पूर्वधर, उत्कृष्ट चौदह पूर्वधर) गण से निकलकर एकल विहारी प्रतिमा का अभिग्रह धारण करके विहार करे और बाद में वह उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो (एकल विहारी दशा में यदि कोई दोष लगा हो तो उस दोष की उससे) पुनः आलोचना कराई जावे, पुनः प्रतिक्रमण कराया जावे, पुनः (दीक्षा छेद योग्य दोष हो तो) दीक्षा-छेद या परिहार-तप में उप-स्थापित किया जावे।

सूत्र २४

गणावच्छेइए य गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा,
से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए,
पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा,
पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा ॥२४॥

जो गणावच्छेदक (आठ गुण वाला—जघन्य दस पूर्वधर, उत्कृष्ट चौदह पूर्वधर) गण से निकलकर एकल विहारी प्रतिमा का अभिग्रह धारण करके विहार करे और बाद में वह उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो (एकल विहारी दशा में यदि कोई दोष लगा हो तो उस दोष की उससे) पुनः आलोचना कराई जावे, पुनः प्रतिक्रमण कराया जावे, पुनः (दीक्षा-छेद योग्य दोष हो तो) दीक्षा-छेद या परिहार तप में उप-स्थापित किया जावे।

सूत्र २५

आयरिय-उवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा,
से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए,

---

1 ठा० आ० ८, सू० ५९४।

पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा,
पुणो छेय-परिहारस्स उवट्ठाएज्जा ॥२५॥

जो आचार्य या उपाध्याय गण से निकलकर एकल विहारी प्रतिमा का अभिग्रह धारण करके विहार करे और बाद में वे उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो (एकल विहारी दशा में यदि कोई दोष लगा हो तो उस दोष की उनसे) पुनः आलोचना कराई जावे, पुनः प्रतिक्रमण कराया जावे, पुनः दीक्षाछेद या परिहार-तप में उपस्थित किया जावे।

पार्श्वस्थविहार-प्रतिमाप्रायश्चित्तम्—

सूत्र २६

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म
पासत्थविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा,
से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए,
अत्थि या इत्थ सेसे,
पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा,
पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा ॥२६॥

पार्श्वस्थ विहार प्रतिमा प्रायश्चित्त

यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर पार्श्वस्थ विहार-प्रतिमा को अंगीकार करके विचरे और बाद में वह (पार्श्वस्थ विहार छोड़कर) उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो अथवा संयम पालने के भाव हों तो—आचार्यादि उससे आलोचना एवं प्रतिक्रमण करावें।

(यदि मूल महाव्रत में दोष लगे तो) दीक्षाछेद या परिहार-तप का प्रायश्चित्त दें।

यथाच्छन्दविहार-प्रतिमाप्रायश्चित्तम्—

सूत्र २७

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म
अहाछंदविहार-पडिमं उपसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा,
से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए,
अत्थि या इत्थ सेसे,
पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा,
पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा ॥२७॥

यथाछन्द विहार प्रतिमा प्रायश्चित्त

यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर यथाछन्द-विहार-प्रतिमा को अंगीकार करके विचरे और बाद में वह (यथाछन्द विहार छोड़कर) उसी गण में मिलकर रहना चाहे तो—यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो अथवा संयम पालने के भाव हों तो—आचार्यादि उससे आलोचना एवं प्रतिक्रमण करावें।

(यदि मूल महाव्रत में दोष लगे तो) दीक्षाछेद या परिहार-तप का प्रायश्चित्त दें।

कुशीलविहार-प्रतिमाप्रायश्चित्तम्—

सूत्र २८

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म
कुसीलविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा,
से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए,
अत्थि या इत्थ सेसे,
पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा,
पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा ॥२८॥

कुशील-विहार-प्रतिमा-प्रायश्चित्त

यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर कुशील विहार-प्रतिमा को अंगीकार करके विचरे और बाद में वह (कुशील विहार छोड़कर) उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो अथवा संयम पालने के भाव हों तो—आचार्यादि उससे आलोचना एवं प्रतिक्रमण करावें।

(यदि मूल महाव्रत में दोष लगे तो) दीक्षा छेद या परिहार-तप का प्रायश्चित्त दें।

अवसन्नविहार-प्रतिमाप्रायश्चित्तम्—

सूत्र २९

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म
ओसन्नविहारपडिमं उपसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा,
से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए,
अत्थि या इत्थ सेसे,
पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा,
पुणो छेय परिहारस्स उवट्ठाएज्जा ॥२९॥

अवसन्न-विहार-प्रतिमा-प्रायश्चित्त

यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर अवसन्न विहार प्रतिमा को अंगीकार करके विचरे और बाद में वह (अवसन्न विहार छोड़कर) उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो अथवा **संयम पालने के भाव हों तो**—आचार्यादि उससे आलोचना एवं प्रतिक्रमण करावे।

(यदि मूल महाव्रत में दोष लगा हो तो) दीक्षाछेद या परिहार-तप का प्रायश्चित्त दें।)

संसत्तविहार-प्रतिमाप्रायश्चित्तम्—

सूत्र ३०

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म
संसत्तविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा,
से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए,
अत्थि या इत्थ सेसे,
पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा,
पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा ॥३०॥

संसक्त-विहार-प्रतिमा प्रायश्चित्त

यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर संसक्त विहार प्रतिमा को अंगीकार करके विचरे और बाद में वह (संसक्त विहार को छोड़कर) उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो अथवा संयम **पालने के भाव हों तो**—आचार्यादि उससे आलोचना एवं प्रतिक्रमण करावे।

(यदि मूल महाव्रत में दोष लगे तो) दीक्षाछेद या परिहार-तप का प्रायश्चित्त दें।

विशेषार्थ—इन पाँच सूत्रों (सूत्र २६ से ३० तक) में पासत्थादि पांच प्रकार के भिक्षुओं के प्रायश्चित्त का विधान है।

पासत्थादि को यदि उत्तर गुणों में ही दोष लगा हो तो आलोचना एवं प्रतिक्रमण का प्रायश्चित्त देना और मूल महाव्रत में दोष लगा हो तो दीक्षा-छेद या परिहार-तप का प्रायश्चित्त देना विहित है। किन्तु मूल महाव्रत भंग हो गया हो और वे अनवस्थाप्य या पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के पात्र न हों तो छेदोपस्थापना प्रायश्चित्त के अतिरिक्त कोई प्रायश्चित्त उनके लिए विहित नहीं है।

पासत्थादि के भेद-प्रभेद और उनकी व्याख्या जानने के लिए भाष्य का अध्ययन करना चाहिए।

परपाषण्डविहार-प्रतिमाप्रायश्चित्तम्—

सूत्र ३१

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म
परपासंडपडिमं उपसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा,
(परलिंगं च गेण्हेज्जा),
से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए,
नत्थि णं तस्स तप्पत्तियं केइ छेए वा, परिहारे वा
नन्नत्थ एगाए आलोयणाए ॥३१॥

परपाषण्ड-विहार-प्रतिमा-प्रायश्चित्त

यदि कोई भिक्षु गण से निकल कर परपाषण्ड-प्रतिमा (अन्य तीर्थियों की वेष-भूषा) को धारण करके विचरे और बाद में वह (अन्यलिंग को छोड़कर) उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—आचार्यादि उसे आलोचना के अतिरिक्त (दीक्षाछेद या परिहार तप आदि) कोई प्रायश्चित्त न दें।

विशेषार्थ—यदि कोई भिक्षु कषायवश गण को छोड़कर अन्यलिंग ग्रहण करता है तो वह आसेवित दोषानुसार दीक्षा-छेद या परिहार तप आदि प्राय-श्चित्तों का पात्र होता है किन्तु अशिवादि उपद्रवों से अभिभूत होकर यदि कोई भिक्षु भाव चारित्र की रक्षा के लिए अन्यलिंग ग्रहण करे तो वह आलो-चना के अतिरिक्त किसी अन्य प्रायश्चित्त का पात्र नहीं है क्योंकि उसने भाव चारित्र की रक्षा के लिए द्रव्यलिंग का परित्याग किया है।

यदि किसी जनपद का राजा आर्हद्दर्शन या निर्ग्रन्थ श्रमणों से अत्यधिक द्वेष रखता हो तो उस राजा के उपास्य अन्यलिंग को धारण करके भिक्षु भाव (चारित्र) की रक्षा करे और जब तक उसे अपने स्वधर्मी न मिलें तब तक वह अन्यलिंग में रहे।

भगवती श० २५ उद्दे० ७ में गृहस्थ लिंग और अन्यलिंग में जो छेदोप-स्थापनीय चारित्र का कथन है वह भी इसी अपेक्षा से है।[1]

---

१ मूलपाठ :
सामाइयसंजए णं भन्ते ! किं सलिंगे होज्जा ? अण्णलिंगे होज्जा ? गिहिलिंगे होज्जा ?
गोयमा ! दव्वलिंगं पडुच्च सलिंगे वा होज्जा, अण्णलिंगे वा होज्जा, गिहिलिंगे वा होज्जा। भावलिंगं पडुच्च नियमं सलिंगे होज्जा। एवं छेदोवट्ठावणिए वि ॥ —श० २५, उ० ७, सू० ४७४।

गणादपक्रम्य गृहीभूय पुनरागतस्य प्रायश्चित्तम्—

सूत्र ३२

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओहावेज्जा,
से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए,
नत्थि णं तस्स तप्पत्तियं केइ छेए वा, परिहारे वा
नन्नत्थ एगाए सेहो वट्ठावणियाए ॥३२॥

पुनः दीक्षित होने वाले के लिए विहित प्रायश्चित्त

यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर एवं व्रती पर्याय से विमुख होकर गृहस्थ लिंग (वेष) धारण कर ले और बाद में वह उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो उसके लिए एक ही "छेदोपस्थापना" प्रायश्चित्त है इसके अतिरिक्त उसे दीक्षा-छेद या परिहार तप आदि प्रायश्चित्त देने का कोई हेतु नहीं है।

विशेषार्थ—ऐसे व्यक्ति को मूल प्रायश्चित्त (नई दीक्षा) देकर ही पुनः संयम में उपस्थापित किया जाता है।

अकृत्यस्थानप्रतिसेविनः प्रायश्चित्तम्—

सूत्र ३३

भिक्खू य अन्नयरं अकिच्चठाणं पडिसेवित्ता[1] इच्छेज्जा आलोएत्तए,
जत्थेव अप्पणो आयरिय-उवज्झाए पासेज्जा
तस्संतियं[2] आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा
निंदेज्जा, गरहेज्जा
विउट्टेज्जा, विसोहेज्जा
अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा, अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा,
नो चेव अप्पणो आयरिय-उवज्झाए पासेज्जा,
जत्थेव संभोइयं साहम्मियं पासेज्जा—
बहुस्सुयं बब्भागमं,
तस्संतियं आलोएज्जा जाव—पडिवज्जेज्जा।
नो चेव संभोइयं साहम्मियं[3],
जत्थेव अन्नसंभोइयं साहम्मियं पासेज्जा—

---

१ सेवित्ता।
२ कप्पइ से।
३ यं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं।

बहुस्सुयं बब्भागमं,
तस्संतियं आलोएज्जा जाव—पडिवज्जेज्जा ।
नो चेव अन्नसंभोइयं[1],
जत्थेव सारूवियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं,
तस्संतियं आलोएज्जा जाव—पडिवज्जेज्जा ।
नो चेव णं सारूवियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं,
जत्थेव समणोवासगं पच्छाकडं पासेज्जा—
बहुस्सुयं बब्भागमं,
कप्पइ से तस्संतिए आलोएत्तए वा पडिक्कमेत्तए वा
जाव पायच्छित्तं पडिवज्जेत्तए वा ।
नो चेव णं समणोवासगं पच्छाकडं पासेज्जा—
बहुस्सुयं बब्भागमं,
जत्थेव सम्मं भावियाइं चेइयाइं पासेज्जा,
कप्पइ से तस्संतिए आलोएत्तए वा पडिक्कमेत्तए वा
जाव—पायच्छित्तं पडिवज्जेत्तए वा ।
नो चेव सम्मं[2] भावियाइं चेइयाइं पासेज्जा,
बहिया गामस्स वा, नयरस्स वा
निगमस्स वा, रायहाणीए वा
खेडस्स वा, कब्बडस्स वा, मंडबस्स वा
पट्टणस्स वा, दोणमुहस्स वा, आसमस्स वा
संवाहस्स वा, सन्निवेसस्स वा
पाईणाभिमुहे वा, उदीणाभिमुहे वा
करयल परिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु
एवं वएज्जा[3]—
"एवइया मे अवराहा, एवइ-क्खुत्तो अहं अवरद्धो,"
अरिहंताणं सिद्धाणं अन्तिए आलोएज्जा,
जाव—पडिवज्जज्जासि—त्तिबेमि ॥३३॥

---

१ यं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं ।

२ समभावियाइं ।

३ कप्पइ से एवं वइत्तए ।

अकृत्य स्थान—प्रायश्चित्त

यदि कोई भिक्षु किसी एक अकृत्यस्थान (नहीं करने योग्य कार्य) का प्रतिसेवन करे और बाद में वह उस अकृत्य स्थान की आलोचना करना चाहे तो—जहाँ पर अपने आचार्य या उपाध्याय[1] को देखे वहाँ उनके समीप आलोचना करे, प्रतिक्रमण करे, निन्दा करे, गर्हा करे, व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) करे; अपने दोष की शुद्धि करे और आगे नहीं करने के लिए अभ्युद्यत हो। (आगे से मैं ऐसा कार्य नहीं करूँगा—ऐसा कहे।) तथा यथायोग्य प्रायश्चित्त तप कर्म को स्वीकार करे।

यदि अपने आचार्य या उपाध्याय न दिखे (न मिले) तो जहाँ पर साम्भोगिक (समान समाचारी वाले) साधर्मिक साधु को देखे—"जो बहुश्रुत एवं बहु आगमज्ञ हो"—उसके समीप आलोचना करे यावत् (प्रतिक्रमण करे, निन्दा करे, गर्हा करे, व्युत्सर्ग करे, अपने दोष की शुद्धि करे और आगे नहीं करने के लिए अभ्युद्यत हो तथा यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म को स्वीकार करे।

यदि साम्भोगिक साधर्मी साधु न दिखे तो जहाँ पर अन्य साम्भोगिक साधर्मिक साधु को देखे—"जो बहुश्रुत हो और बहुआगमज्ञ हो" वहाँ उसके समीप आलोचना करे यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म को स्वीकार करे।

यदि अन्य साम्भोगिक साधर्मिक साधु—बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ न दिखे तो जहाँ पर अपने सारूप्य (समान वेष धारक) साधु को देखे—"जो बहुश्रुत हो और बहुआगमज्ञ हो" वहाँ उसके समीप आलोचना करे—यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म को स्वीकार करे।

यदि सारूप्य साधु बहुश्रुत और बहु आगमज्ञ न दीखे तो—जहाँ पर पश्चात्कृत श्रमणोपासक (जिसने पहले महाव्रत स्वीकार किये थे परन्तु प्रबल मोहोदय से उनके पालने में अपने को असमर्थ देखकर साधु वेष छोड़ दे और बाद में श्रावक के व्रत स्वीकार कर ले—ऐसे व्यक्ति) को देखे—"जो बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ हो" वहाँ उसके समीप आलोचना करे यावत्—यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म को स्वीकार करे।

यदि पश्चात्कृत श्रमणोपासक बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ न दीखे तो—जहाँ पर सम्यक् भावित चैत्यों (समभावी स्व-पर-विवेकी सम्यक्दृष्टि व्यक्तियों)

---

१ ठा०, अ० १०, सू० ७३३।

को देखे तो वहाँ उनके (या उनमें से किसी एक अधिक विवेकी के) समीप आलोचना करे यावत्—यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म को स्वीकार करे।

यदि सम्यक् भावित चैत्य न दीखे तो ग्राम—यावत् सन्निवेश के बाहर जाकर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर अभिमुख हो करतल जोड़कर शिर से आवर्तन करे और मस्तक पर अञ्जली करके इस प्रकार बोले—

"इतने मेरे दोष है और इतनी वार मैंने इन दोषों का सेवन किया है। इसप्रकार तीन वार बोलकर (परोक्ष रूप से) अरहन्तों और सिद्धों के समीप आलोचना करे यावत्—यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म को स्वीकार करे। ऐसा मैं कहता हूँ—

पढमो उद्देसओ समत्तो।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बिइओ उद्देसओ

सहविहरतामकृत्यप्रतिसेविनां प्रायश्चित्तम्—

सूत्र १

दो साहम्मिया एगयओ विहरंति,
एगे तत्थ अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
ठवणिज्जं ठावइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ॥१॥

द्वितीय उद्देशक

अकृत्य प्रायश्चित्त

दो सार्धमिक साधु एक साथ विचरते हों और उनमें से यदि एक (अंगीतार्थ भिक्षु) किसी अकृत्य स्थान (नहीं करने योग्य कार्य) की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो आचार्यादि (उसे उपवास-आयम्बिल आदि) सम्पूर्ण तपरूप प्रायश्चित्त दें।

यदि अकृत्य स्थानसेवी गीतार्थ भिक्षु हो और वह परिहार तप कर सकता हो तो उसे परिहार तप रूप प्रायश्चित्त दें। तदनन्तर प्रायश्चित्त तप करने योग्य हो उसे प्रायश्चित्त दें और (उसके साथी) अन्य सार्धमिक भिक्षु को उसकी वैयावृत्य के लिए नियुक्त करें।

सूत्र २

दो साहम्मिया एगयओ विहरंति,
दो वि ते अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
एगं तत्थ कप्पागं ठावइत्ता एगे निव्विसेज्जा,
अह पच्छा से वि निव्विसेज्जा ॥२॥

दो (गीतार्थ) सार्धमिक साधु एक साथ विचरते हों और वे दोनों ही साधु किसी एक अकृत्य स्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करना चाहें तो उनमें से एक कल्पाक (आचार्य सदृश प्रमुख) स्थापित हो और एक परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त का आचरण करे। जो कल्पाक हो वह उस (परिहार-तप करने वाले) की वैयावृत्य करे बाद में (परिहार-तप सेवन करने वाले के तप की समाप्ति होने पर) वह कल्पाक स्थापित हो। और वैयावृत्य करने वाला परिहार तपरूप प्रायश्चित्त का आचरण करे।

सूत्र ३

वहवे साहम्मिया एगयओ विहरंति,
एगे तत्थ अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
तत्थ ठवणिज्जं ठावइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ॥३॥

वहुत से सार्धमिक साधु एक साथ विचरते हों और उनमें से कोई एक साधु किसी एक अकृत्यस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करना चाहें तो (उनमें जो प्रमुख स्थविर हो वह) उसे योग्य प्रायश्चित्त दे दूसरे भिक्षु को उसकी वैयावृत्य के लिए नियुक्त करे।

सूत्र ४

वहवे साहम्मिया एगयओ विहरंति,
सव्वे वि अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
एगं तत्थ कप्पागं ठावइत्ता अवसेसा निव्विसेज्जा,
अह पच्छा से वि निव्विसेज्जा ॥४॥

वहुत से सार्धमिक साधु एक साथ विचरते हों और वे सव किसी एक अकृत्य स्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करना चाहें तो उनमें से वे एक को कल्पाक स्थापित करे और शेष सव प्रायश्चित्त करें। वाद में वह कल्पाक साधु भी प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

ग्लानपरिहारकल्पस्थस्याकृत्य-प्रतिसेविनः प्रायश्चित्तम्—

सूत्र ५

परिहार-कप्पट्ठिए भिक्खू गिलाएमाणे अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
से य संथरेज्जा ठवणिज्जं ठावइत्ता करणिज्जं वेयावडियं।
से य नो संथरेज्जा अणुपारिहारिएणं करणिज्जं वेयावडियं
सेय संते वले अणुपारिहारिएणं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जेज्जा,
से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ॥५॥

रुग्ण भिक्षु कृत-अकृत्य का प्रायश्चित्त

परिहार तप रूप प्रायश्चित्त करने वाला भिक्षु यदि रुग्ण होने पर किसी अकृत्य स्थान की प्रतिसेवना कर ले और वाद में आलोचना करे तो—(उसके प्रायश्चित्त के सम्वन्ध में तीन विकल्प हैं।)

१—यदि वह परिहार तप करने में समर्थ हो तो आचार्यादि उसे परिहार तप रूप प्रायश्चित्त दें और उसकी सेवा के लिए किसी दूसरे आनुपारिहारिक भिक्षु को नियुक्त करें।

२—यदि वह परिहार तप रूप प्रायश्चित्त करने में समर्थ न हो तो आचार्यादि उसकी वैयावृत्य के लिए आनुपारिहारिक भिक्षु को नियुक्त करें।

३—यदि वह (रुग्ण परिहार तप रूप प्रायश्चित्त करने वाला भिक्षु) सबल होते हुए भी आनुपारिहारिक भिक्षु से वैयावृत्य करावे तो उसे परिहार तप रूप प्रायश्चित्त दें।

विशेषार्थ—परिहार तप करने वाला भिक्षु पारिहारिक कहा जाता है और उसकी सेवा के लिए जो भिक्षु नियुक्त किया जाता है वह आनुपारिहारिक कहा जाता है

परिहार तप का आचरण करने वाला रुग्ण होते हुए भी सबल हो किन्तु निर्बलता का दिखावा करके आनुपारिहारिक से वैयावृत्य कराये तो वह पुनः पारिहारिक तपरूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

प्रायश्चित्त काल में सेवित अकृत्य स्थान के प्रायश्चित्त को या अकारण सेवा कराने से प्राप्त प्रायश्चित्त को पूर्व सेवित अकृत्य स्थान के प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए।

आनुपारिहारिक के सेवा कार्य—

परिहार तपरूप प्रायश्चित्त करने वाला जिन कार्यों को न कर सके उन कार्यों को आनुपारिहारिक करे। यथा—भिक्षा न ला सके तो उसके लिए भिक्षा लाकर दे, उठ बैठ न सके तो उसे उठाए बिठाए, वस्त्र-पात्रादि का प्रक्षालन न कर सके तो वह भी करे। जब तक वह पूर्ण रूप से स्वस्थ न हो जावे तब तक आनुपारिहारिक को वैयावृत्य करते रहना चाहिए।

सूत्र ६

परिहार-कप्पट्ठियं भिक्खुं गिलायमाणं[1]
नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए।
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव-
तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को।
तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥६॥

रुग्ण पारिहारिक को गण से निकालने का निषेध

परिहारतप रूप प्रायश्चित्त करने वाला भिक्षु यदि रोगादि से पीड़ित होने पर गणावच्छेदक के समीप आवे तो उसे गण से बाहर करना नहीं

---

१ गिलायमीणं।

कल्पता है। किन्तु जव तक वह रोग के आतङ्क से मुक्त न हो तव तक उसकी अग्लान (सेवा कार्यों से घृणा न करने वाले) भिक्षु से वैयावृत्य करानी चाहिए वाद में गणावच्छेदक उस भिक्षु को यथासम्भव लघु प्रायश्चित्त दें।

समागत-अनवस्थाप्य-ग्लानस्य निष्कासन-निषेधः—

सूत्र ७

अणवट्ठप्पं भिक्खुं गिलायमाणं
नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए।
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव
तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को,
तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥७॥

रुग्ण अनवस्थाप्य भिक्षु को गण से निकालने का निषेध

अनवस्थाप्य भिक्षु (नवम प्रायश्चित्त को सेवन करने वाला साधु) यदि रोगादि से पीड़ित होने पर गणावच्छेदक के समीप आवे तो उसे गण से वाहर करना नहीं कल्पता है किन्तु जव तक वह रोग-आतंक से मुक्त न हो तव तक उसकी अग्लान भिक्षु से वैयावृत्य करानी चाहिए। वाद में (गणावच्छेदक) उस साधु को यथासम्भव लघु व्यवहार प्रायश्चित्त दें।

समागत-पाराञ्चितग्लानस्य निष्कासन निषेधः—

सूत्र ८

पारंचियं भिक्खुं गिलायमाणं
नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए।
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव
तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को,
तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

रुग्ण पाराञ्चिक भिक्षु को गण से निकालने का निषेध

पारंचित भिक्षु (दशवें प्रायश्चित्त तप को सेवन करने वाला साधु) यदि रोगादि से पीड़ित होने पर गणावच्छेदक के समीप आवे तो उसे गण से वाहर करना नहीं कल्पता है। किन्तु जव तक वह रोग-आतंक से मुक्त न हो जाए तव तक उसकी अग्लान साधु से वैयावृत्य करानी चाहिए। वाद में (गणावच्छेदक) उस साधु को यथासम्भव लघु व्यवहार प्रायश्चित्त दें।

क्षिप्त-चित्तादीनां निष्कासन-निषेधः

सूत्र ९

खित्तचित्तं भिक्खुं गिलायमाणं
नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए।

अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव
तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को
तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥९॥

विक्षिप्त भिक्षु को गण से निकालने का निषेध

विक्षिप्त चित्त से पीड़ित भिक्षु यदि गणावच्छेदक के समीप आवे तो उसे गण से बाहर करना नहीं कल्पता है। किन्तु जब तक वह रोग-आतंक से मुक्त न हो जाए तब तक उसकी अग्लान साधु से वैयावृत्य करानी चाहिए। बाद में (गणावच्छेदक) उस साधु को यथासम्भव लघु व्यवहार प्रायश्चित्त दें।

सूत्र १०

दित्तचित्तं भिक्खुं गिलायमाणं
नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए।
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं
जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को
तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥१०॥

दीप्तचित्त (हर्षातिरेक से भ्रमित चित्त) से पीड़ित भिक्षु यदि गणावच्छेदक के समीप आवे तो उसे गण से बाहर करना नहीं कल्पता है। किन्तु जब तक वह रोग-आतंक से मुक्त न हो जाए तब तक उसकी अग्लान साधु से वैयावृत्य करानी चाहिए। बाद में (गणावच्छेदक) उस साधु को यथासम्भव लघु व्यवहार प्रायश्चित्त दें।

सूत्र ११

जक्खाइट्ठं[1] भिक्खुं गिलायमाणं
नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए।
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं
जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को
तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥११॥

यक्षावेश (शरीर में भूत-प्रेतादि के प्रवेश) से पीड़ित भिक्षु यदि गणावच्छेदक के समीप आवे तो उसे गण से बाहर करना नहीं कल्पता है। किन्तु जब तक वह (यक्षावेशजन्य) रोग-आतंक से मुक्त न हो जाए तब तक उसकी

---

१ ठा० अ० २ उ० १ सू० ६८।

अग्लान साधु से वैयावृत्य करानी चाहिए। बाद में (गणावच्छेदक) उस साधु को यथासम्भव लघु व्यवहार प्रायश्चित्त दें।

सूत्र १२

उम्मायपत्तं[1] भिक्खुं गिलायमाणं
नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए।
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं
जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को
तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥१२॥

उन्माद (मोहोदय) से पीड़ित भिक्षु यदि गणावच्छेदक के समीप आवे तो उसे गण से बाहर करना नहीं कल्पता है। किन्तु जब तक वह (मोहोदयजन्य) रोग-आतंक से मुक्त न हो जाए तब तक उसकी अग्लान साधु से वैयावृत्य करानी चाहिए। बाद में (गणावच्छेदक) उस साधु को यथासम्भव लघु व्यवहार प्रायश्चित्त दें।

सूत्र १३

उवसग्गपत्तं भिक्खुं गिलायमाणं
नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए।
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं
जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को।
तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥१३॥

उपसर्ग (देव मनुष्य या तिर्यञ्च उपद्रव) से पीड़ित भिक्षु यदि गणावच्छेदक के समीप आवे तो उसे संघ से बाहर करना नहीं कल्पता है। किन्तु जब तक वह (उपसर्ग-जन्य) रोग-आतंक से मुक्त न हो जाय तब तक उसकी अग्लान साधु से वैयावृत्य करानी चाहिए। बाद में (गणावच्छेदक) उस साधु को यथासम्भव लघु व्यवहार प्रायश्चित्त दें।

सूत्र १४

साहिगरणं भिक्खुं गिलायमाणं
नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए।
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं
जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को
तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥१४॥

---

१ ठा० अ० २ उ० १ सू० ६८।

साधिकरण (क्रोध, क्लेश, कलह) से पीड़ित भिक्षु यदि गणावच्छेदक के समीप आवे तो उसे संघ से बाहर करना नहीं कल्पता है। किन्तु जब तक वह (क्लेश जन्य) रोग-आतंक से मुक्त न हो जाए तब तक उसकी अग्लान साधु से वैयावृत्य करानी चाहिए। बाद में (गणावच्छेदक) उस साधु को यथा सम्भव लघु व्यवहार प्रायश्चित्त दें।

सूत्र १५

सपायच्छित्तं भिक्खुं गिलायमाणं
नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए।
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं
जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को
तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥१५॥

सप्रायश्चित्त (अधिक प्रायश्चित्त देने से भयभीत) भिक्षु यदि गणावच्छेदक के समीप आवे तो उसे संघ से बाहर करना नहीं कल्पता है। किन्तु जब तक वह (भयजन्य) रोग-आतंक से मुक्त न हो जाए तब तक उसकी अग्लान साधु से वैयावृत्य करानी चाहिए। बाद में (गणावच्छेदक) उस साधु को यथासम्भव लघु व्यवहार प्रायश्चित्त दें।

सूत्र १६

भत्तपाणपडियाइक्खित्तं भिक्खुं गिलायमाणं
नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए।
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं
जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को
तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥१६॥

भक्त-पान-प्रत्याख्यान (क्षुधा) से पीड़ित भिक्षु यदि गणावच्छेदक के समीप आवे तो उसे गण से बाहर करना नहीं कल्पता है। किन्तु जब तक वह (असह्य क्षुधा जन्य) रोग-आतंक से मुक्त न हो जाए तब तक उसकी अग्लान साधु से वैयावृत्य करानी चाहिए। बाद में (गणावच्छेदक) उस साधु को यथा-सम्भव लघु व्यवहार प्रायश्चित्त दें।

सूत्र १७

अट्ठजायं भिक्खुं गिलायमाणं
नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए।
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं

जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को
तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥१७॥

अर्थजात (धन के प्रलोभन) से पीडित भिक्षु यदि गणावच्छेदक के समीप आवे तो उसे गण से बाहर करना नहीं कल्पता है। किन्तु जब तक वह (अति-लोभ जन्य मानसिक) रोग-आतंक से मुक्त न हो जाए तब तक उसकी अग्लान साधु से वैयावृत्य करानी चाहिए। बाद में (गणावच्छेदक) उस साधु को यथा-संभव लघु व्यवहार प्रायश्चित्त दें।

विशेषार्थ—इस सूत्र में "अट्ठजायं भिक्खुं गिलायमाणं" का अर्थ है—"अर्थ प्रलोभन से ग्लान भिक्षु" अब आशंका यह है कि निर्ग्रन्थ परम्परा का भिक्षु किन-किन परिस्थितियों में अर्थ प्रलोभन से ग्लान होता है—भाष्यकार ने इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है।

किसी भिक्षु या भिक्षुणी के निकटतम सम्बन्धी का यदि कोई अपहरण कर ले और बाद में वह एक निश्चित अर्थराशि प्राप्त होने पर ही उसे मुक्त करने की कहे—तथा अर्थराशि प्राप्त करने के लिए भिक्षु या भिक्षुणी पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दबाव डाले। यह है, भिक्षु जीवन में अर्थ आवश्यकता का एक प्रबल कारण।

रागमुक्त न होने के कारण भिक्षु या भिक्षुणी के मन में अपने निकटतम सम्बन्धी को मुक्त कराने का संकल्प होता है किन्तु इतनी बड़ी अर्थराशि कैसे प्राप्त की जाय ?

जब तक इस समस्या का समाधान उसे प्राप्त नहीं हो जाता तब तक वह मानसिक ग्लानि से ग्लान रहता है।

ऐसे भिक्षु या भिक्षुणी के सम्बन्ध में ही यह सूत्र है।

भाष्य में इसी प्रकार के कुछ अन्य प्रसंग भी लिखे हैं। जिनमें भिक्षु या भिक्षुणी को अर्थ की आवश्यकता होती है, साथ ही अर्थ प्राप्त करने के कई उपाय भी सूचित किए है।

अनवस्थाप्यपाराञ्चितयोः पुनरुपस्थापनविधिः

सूत्र १८

अणवट्ठप्पं भिक्खुं अगिहिभूयं
नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावित्तए ॥१८॥

अनवस्थाप्य और पाराञ्चिक भिक्षु को—पुनः दीक्षित करने का विधान

अनवस्थाप्य (चोरी या मारामारी करने वाले नवम प्रायश्चित्त के पात्र साधु) भिक्षु को गृहस्थ वेष धारण कराए विना पुनः संयम में उपस्थापन करना गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है।

सूत्र १९

अणवट्ठप्पं भिक्खुं गिहिभूयं
कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावेत्तए ॥१९॥

(किन्तु) गृहस्थ वेष धारण कराके उसे पुनः संयम में उपस्थापन करना कल्पता है।

सूत्र २०

पारंचियं भिक्खुं अगिहिभूयं
नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावेत्तए।

पारंचित (दशवें प्रायश्चित्त के पात्र) भिक्षु को गृहस्थ वेष धारण कराए विना पुनः संयम में उपस्थापन करना गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है।

सूत्र २१

पारंचियं भिक्खुं गिहिभूयं
कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावेत्तए ॥२१॥

(किन्तु) गृहस्थ वेष धारण कराके उसे पुनः संयम में उपस्थापन करना कल्पता है।

सूत्र २२

अणवट्ठप्पं भिक्खुं अगिहिभूयं वा गिहिभूयं वा,
कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावेत्तए,
जहा तस्स गणस्स पत्तियं सिया ॥२२॥

अनवस्थाप्य भिक्षु को गणावच्छेदक गृहस्थ का वेष धारण कराके पुनः संयम में उपस्थापित करे या गृहस्थ का वेष धारण कराए विना ही पुनः संयम मे उपस्थापित करे ?

(इस समस्या का समाधान यह है कि) गण को जिस प्रकार प्रतीति हो उसी प्रकार गणावच्छेदक को उसे संयम में पुन उपस्थापित करना कल्पता है।

सूत्र २३

पारंचियं भिक्खुं अगिहिभूयं[1] वा गिहिभूयं वा
कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावेत्तए,
जहा तस्स गणस्स पत्तियं सिया ॥२३॥

पारंचित भिक्षु को गणावच्छेदक गृहस्थ का वेष धारण कराके पुनः संयम में उपस्थापित करे या गृहस्थ का वेष धारण कराए विना ही पुनः संयम में उपस्थापित करे ?

(इस समस्या का समाधान यह है कि) गण को जिस प्रकार प्रतीति हो उसी प्रकार गणावच्छेदक को उसे संयम में पुनः उपस्थापित करना कल्पता है।

अनङ्ग-क्रीडाभ्याख्याने निर्णयः प्रायश्चित्तञ्च

सूत्र २४

दो साहम्मिया एगयओ विहरंति,
एगे तत्थ अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
'अहं णं भंते ! अमुगेणं साहुणा सद्धि इमम्मि कारणम्मि मेहुणपडिसेवी।'
पच्चयहेउं च सयं पडिसेवियं भणति।
से[2] तत्थ पुच्छियव्वे—'किं पडिसेवी, अपडिसेवी ?'
से य वएज्जा—'पडिसेवी',
परिहारपत्ते।
से य वएज्जा—'नो पडिसेवी'।
नो परिहार पत्ते।
जं से पमाणं वयइ से पमाणओ घेयव्वे।
से किमाहु भंते !
सच्चपइन्ना ववहारा ॥२४॥

अनङ्ग-क्रीड़ा एवं अभ्याख्यान का निर्णय और प्रायश्चित्त

दो सार्धमिक साधु एक साथ विचरते हों—उनमें से यदि एक साधु किसी एक अकृत्य स्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे कि—"हे भगवन् ! मैं अमुक साधु के साथ अमुक कारण के होने पर मैथुन-प्रतिसेवी हूँ (प्रतीति

---

१ 'भिक्खुं, पारंचियं भिक्खुं अगिहि०।' ऐसा पाठ टीका (मलयगिरीया) में होने से २३वाँ सूत्र यहाँ नहीं है।
२ से य पुच्छियव्वे—किं पडिसेवी ?

कराने के लिए वह स्वयं अपनी प्रतिसेवना स्वीकार करता है अतः गणावच्छेदक को) दूसरे साधु से पूछना चाहिए कि—

प्रश्न—क्या तुम प्रतिसेवी हो, या अप्रतिसेवी ?

उत्तर (क)—यदि वह कहे कि—"मैं प्रतिसेवी हूँ—तब तो परिहार तप का पात्र होता है।

उत्तर (ख)—यदि वह कहे कि—"मैं प्रतिसेवी नहीं हूँ।" तो वह परिहार तप का पात्र नहीं है। क्योंकि वह प्रमाणभूत सत्य कहता है—इसलिए उसका सत्य कथन स्वीकार करना चाहिए।

शिष्य का प्रश्न—हे भगवन् ! आप ऐसा क्यों कहते हैं ?

आचार्य का उत्तर—तीर्थङ्करों ने सत्य प्रतिज्ञा पर (सत्य कथन पर) व्यवहार को निर्भर बताया है।

सूत्र २५

भिक्खू अ गणाओ अवक्कम्म ओहाणुप्पेही[1] वज्जेज्जा,
से[2] य अणोहाइए इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए,
तत्थ णं थेराणं इमेयारूवे विवाए समुप्पज्जित्था—
'इमं भो ! जाणह किं पडिसेवी, अपडिसेवी ?'
से य पुच्छियव्वे—'किं पडिसेवी, अपडिसेवी ?'
से य वएज्जा—'पडिसेवी', परिहारपत्ते।
से य वएज्जा—'नो पडिसेवी', नो परिहारपत्ते।
जं से पमाणं वयइ से पमाणओ घेयव्वे[3]।
से किमाहु भंते !
सच्चपइन्ना ववहारा ॥२५॥

असंयम सेवन की इच्छा से यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर जावे और बाद में असंयम का सेवन किए बिना ही आकर पुनः उसी गण में सम्मिलित होना चाहे—(ऐसी स्थिति में) संघ के स्थविरों में यदि विवाद उत्पन्न हो जाए कि—"भिक्षुओं ! क्या तुम यह जानते हो कि यह भिक्षु प्रतिसेवी है या अप्रतिसेवी ? तब उस साधु से पूछना चाहिए कि—

---

१ ओहाणुप्पेहाए गच्छेज्जा।
२ से य आहच्च अणोहाइए से य।
३ घेयव्वे सिया।

प्रश्न—क्या तुम प्रतिसेवी हो या अप्रतिसेवी हो ?

उत्तर (क)—(यदि वह कहे कि) "मैं प्रतिसेवी हूं।" तो वह परिहार प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

उत्तर (ख)—(यदि वह कहे कि)—"मैं प्रतिसेवी नहीं हूँ"—तो वह परिहार प्रायश्चित्त का पात्र नहीं होता है। क्योंकि वह प्रमाणभूत (सत्य) वचन कहता है अतः उसका कथन प्रमाण रूप से ग्रहण करना चाहिए।

शिष्य का प्रश्न—हे भगवन् ! आप ऐसा क्यों कहते हैं ?

आचार्य का उत्तर—तीर्थङ्करों ने सत्य प्रतिज्ञा पर व्यवहार को निर्भर बताया है।

आचार्यादौ जीविते मृते वा तत्पदप्रदानविधानम्—

सूत्र २६

एगपक्खियस्स भिक्खुस्स
कप्पइ आयरिय—उवज्झायाणं इत्तरियं दिसं वा,
अणुदिसं वा, उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा,
जहा वा तस्स गणस्स पत्तियं सिया ॥२६॥

आचार्यादि के दिवंगत होने पर आचार्यादि-पद प्रदान करने का विधान

(आचार्य या उपाध्याय के मरण के बाद) आचार्य या उपाध्याय के स्थान पर गण को जिस प्रकार प्रतीति हो उसी प्रकार—एकपक्षीय (दीक्षा और श्रुत से) स्वर्गीय भिक्षुक को इत्वरिक दिशा से (अल्पकाल के लिए) अथवा अनुदिशा से (यावज्जीवन के लिए) उद्देश करके आचार्य या उपाध्याय के पद पर स्थापित करना या धारण करना कल्पता है।

विशेषार्थ—आचार्य या उपाध्याय का मरण होने पर संघ में अव्यवस्था न हो और संघ में व्यवस्था बराबर बनी रहे इसके लिए आचार्य या उपाध्याय के पद पर तत्काल किसी को स्थापित करना आवश्यक होता है। जब तक कोई सुयोग्य साधु न मिले तब तक अल्पकाल के लिए किसी भिक्षु को उक्त पद पर प्रतिष्ठित करना "इत्वरिक दिशा" कहलाती है। और सुयोग्य भिक्षु को यावज्जीवन के लिए लिए उक्त पदों पर प्रतिष्ठित करना "अनुदिशा" कहलाती है। जिस प्रकार करने से गण को प्रतीति हो उसी प्रकार उक्त कार्य करना चाहिए।

पारिहारिकाऽपारिहारिक-संभोगविधानम्

सूत्र २७

बहवे पारिहारिया बहवे अपरिहारिया
इच्छेज्जा एगयओ[1]
एगमासं[2] वा, दुमासं वा, तिमासं वा,
चाउमासं वा, पंचमासं वा, छम्मासं वा वत्थए
ते अन्नमन्नं संभुंजंति अन्नमन्नं नो संभुंजंति[3]
मासंते तओ पच्छा सव्वे वि एगयओ संभुंजंति ॥२७॥

पारिहारिक और अपारिहारिकों के परस्पर व्यवहार

अनेक पारिहारिक (परिहार प्रायश्चित्त वाले) और अनेक अपारिहारिक भिक्षु यदि एक, दो, तीन, चार, पांच या छः मास पर्यन्त एक साथ रहना चाहें तो वे परस्पर (कितनी अवधि बाद) एक साथ बैठकर आहार भोगते हैं ?

(क) वे परस्पर (पारिहारिक साधुओं की वैयावृत्य करने वाले अपारिहारिक पारिहारिक भिक्षुओं के) एक साथ बैठकर आहार कर सकते हैं।

(ख) वे परस्पर (किन्तु जो पारिहारिक भिक्षुओं की वैयावृत्य नहीं करते हैं वे अपारिहारिक भिक्षुओं के) एक साथ बैठकर आहार नहीं (भी) कर सकते हैं।

(ग) छः मास के बाद एक मास और बीतने पर वे सभी (परिहारी और अपरिहारी) भिक्षु एक साथ बैठकर आहार भोग सकते हैं।

विशेषार्थ—परिहार तप वाले साधुओं के साथ अपरिहारी साधु यदि एक मास साथ रहें तो पाँच दिन बाद साथ बैठकर आहार कर सकते हैं। यदि दो मास रहें तो दश दिन बाद साथ बैठकर आहार कर सकते हैं। इस प्रकार एक-एक मास के पाँच-पाँच दिन गिनने चाहिए। यदि छः मास तक वे साथ रहें तो—(६ × ५ = ३० दिन) एक मास बाद साथ बैठकर आहार कर सकते हैं।

परिहारकल्पस्थितायाऽशनादिप्रदान-विधानम्—

सूत्र २८

परिहार-कप्पट्ठियस्स भिक्खुस्स नो कप्पइ
असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा साइमं वा

---

१ एगओ।
२ 'एगमासं.......छम्मासं वा' पद 'नो संभुंजंति' के बाद कहीं-कहीं है।
३ मासं ते तत्तो पच्छा।

दाउं वा अणुप्पदाउं वा ।
थेरा य णं वएज्जा—"इमं ता[1] अज्जो ! तुमं एएसिं देहि वा, अणुप्पदेहि वा",
एवं से कप्पइ दाउं वा, अणुप्पदाउं वा ।
कप्पइ से लेवं अणुजाणावेत्तए—
"अणुजाणह भंते[2] ! लेवाए"
एवं से कप्पइ लेवं अणुजाणावेत्तए[3] ॥२८॥

(अपारिहारिक भिक्षुको) परिहार कल्पस्थित भिक्षु के लिए अशनादि चार प्रकार का आहार देना या दिलाना नहीं कल्पता है ।

यदि स्थविर (किसी अपारिहारिक भिक्षु को) कहें कि, हे आर्य ! इस (परिहारकल्पस्थित भिक्षु) को या इन (परिहार कल्पस्थित भिक्षुओं) को अशनादि चार प्रकार का आहार दो या दिलावो ।'

इस प्रकार स्थविरों की आज्ञा से (अपारिहारिक भिक्षु को परिहार कल्पस्थित भिक्षु के लिए अशनादि चार प्रकार का) आहार देना या दिलाना कल्पता है ।

(परिहार कल्पस्थित भिक्षु) लेप (घृतादि विकृति) लेना चाहे तो स्थविर की आज्ञा से उसे लेना कल्पता है ?

"हे भगवन् ! मुझे लेप (घृतादि विकृति) लेने की की आज्ञा प्रदान करें"

इस प्रकार (स्थविर से आज्ञा लेने के वाद) उसे (परिहार कल्पस्थित भिक्षु को) लेप (घृतादि विकृति) लेना कल्पता है ।

विशेषार्थ—परिहार कल्पस्थित (प्रायश्चित्त निमित्त तप करने वाला) भिक्षु अपने लिए स्वयं आहार लावे—यह सामान्य नियम है ।

परिहार कल्पस्थित भिक्षु यदि तपश्चर्या करते-करते अशक्त हो जाय और आहारादि लाने का सामर्थ्य न रहे तो स्थविर किसी एक अपारिहारिक भिक्षु को कहे कि इसे आहार दो या दिलावो । यह विशेष विधान है ।

भाष्य के अनुसार यहाँ 'लेप' शब्द से घृत आदि विकृतियाँ ग्रहण करनी चाहिए । भाष्यकार का कथन है कि कभी भिक्षा में घृतादि विकृति अधिक आ जावे और परिहार कल्पस्थित भिक्षु को भिक्षुओं की प्रकृति के अनुसार

---

१ भो ।
२ नं लेवाए ।
३ समासेवित्तए ।

विभाग करने का अनुभव हो तो स्थविर परिहार कल्पस्थित भिक्षु से ही घृतादि विकृति का विभाग करवा कर भिक्षुओं को दे और परिहार कल्पस्थित भिक्षु अपने हाथों पर लगी हुई विकृति को स्थविर से आज्ञा लेकर ही ग्रहण करे।

पारिहारिकपात्रेऽपारिहारिकस्यभोजन-निषेधः

सूत्र २९

परिहार-कप्पट्ठिए भिक्खू सएणं पडिग्गहेणं
बहिया अप्पाणं[1] थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा,
थेरा य णं वएज्जा—"पडिग्गाहेहि[2] अज्जो! अहं पि भोक्खामि वा पाहामि वा",
एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।[3]
तत्थ नो कप्पइ अपारिहारिएणं पारिहारियस्स पडिग्गहंसि असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा भोत्तए वा पायए वा।
कप्पइ से सयंसि वा पडिग्गहंसि
सयंसि वा पलासगंसि
सयंसि[4] वा कमण्डलगंसि
सयंसि वा खुब्भगंसि
सयंसि वा पाणिंसि
उद्धट्टु-उद्धट्टु भोत्तए वा पायए वा।
एस कप्पो अपारिहारियस्स पारिहारियाओ ॥२९॥

पारिहारिक के पात्र में अपारिहारिक के भोजन का निषेध

परिहारकल्प में स्थित भिक्षु अपने प्रतिग्रह (पात्रों) के साथ बाहर अपनी वैयावृत्य के लिए (आहार-पानी लेने के लिए) जावे। (उसे जाता हुआ देखकर) स्थविर यदि उसे कहें कि—"हे आर्य! (हमारे योग्य आहार-पानी भी अपने पात्रों में) लेते आना—"मैं भी खाऊँगा-पीऊँगा।" ऐसा कहने पर उसे स्थविर के लिए अपने पात्र में अशन-पान लाना कल्पता है। किन्तु अपरिहारी

---

१ बहिया वेया०।
२ पडिग्गाहे।
३ गाहेत्तए।
४ चिन्हित पद से लेकर 'सयंसि वा पाणिंसि' के 'सयंसि' पद तक पाठ कहीं-कहीं नहीं है।

भिक्षु को परिहारी भिक्षु के पात्र में अशन-पानादि खाना-पीना नहीं कल्पता है। किन्तु परिहारी भिक्षु के द्वारा लाए गए अशन-पानादि को अपने प्रतिग्रह में पलाश-पुटक (पलाश-ढाक के पत्तों से बने दोने) में कमण्डल में, खोबा (दोनों हाथों से बनी अञ्जली) में या अपने एक हाथ में (परिहारी साधु के पात्र से) थोड़ा-थोड़ा निकाल-निकालकर खाना-पीना स्थविर को कल्पता है।

यह कल्प (आचार) अपारिहारिक भिक्षु का पारिहारिक भिक्षु की अपेक्षा से कहा गया है।

सूत्र ३०

परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू थेराणं पडिग्गहेणं बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा,
थेरा य णं वएज्जा—"पडिग्गाहेहि अज्जो ! तुमंपि पच्छा भोक्खसि वा पाहिसि वा",
एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।
तत्थ नो कप्पइ पारिहारिएणं अपारिहारियस्स पडिग्गहंसि असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा भोत्तए वा पायए वा।
कप्पइ से सयंसि वा पडिग्गहंसि
सयंसि वा पलासगंसि
सयंसि वा कमण्डलगंसि
सयंसि वा खुब्भगंसि
सयंसि वा पाणिंसि
उद्धट्टु-उद्धट्टु भोत्तए वा पायए वा।
एस कप्पो पारिहारियस्स अपारिहारियाओ। त्ति बेमि ॥३०॥

परिहार कल्प मे स्थित भिक्षु स्थविरों के प्रतिग्रह (पात्रों) को लेकर स्थविरों की वैयावृत्य करने के लिए (आहार-पानी लाने के लिए) जावे तब.... स्थविर उसे कहें कि—"हे आर्य ! तुम भी (अपना अशन-पान इन्हीं पात्रों में) लाओ और यहाँ पर ही खाओ-पीओ।" ऐसा कहने पर उसे स्थविर के पात्रों में अपने लिए भी अशन-पान लाना कल्पता है। किन्तु अपारिहारिक भिक्षु के पात्र में पारिहारिक भिक्षु को अशन-पानादि का खाना-पीना नहीं कल्पता है। किन्तु अपने पात्र, पलाश पुटक, कमण्डल, खोबा या अपने हाथ में थोड़ा-थोड़ा ले-लेकर खाना-पीना कल्पता है।

यह कल्प पारिहारिक भिक्षु का अपारिहारिक भिक्षु की अपेक्षा से कहा गया है। ऐसा मैं कहता हूँ।

द्वितीय उद्देशक समाप्त

तइओ उद्देसओ

भिक्षोर्गणधारणविधानम्

सूत्र १

प्रश्न—भिक्खू य इच्छेज्जा गणं धारेत्तए,
भगवं ! च से अपलिच्छन्ने ?

उत्तर—एवं नो से कप्पइ गणं धारित्तए।

प्रश्न—भगवं ! च से पलिच्छन्ने ?

उत्तर—एवं से कप्पइ गणं धारेत्तए ॥१॥

तृतीय उद्देशक

भिक्षु का गणधारण विधान

प्रश्न—हे भगवन् ! यदि कोई भिक्षु गण को धारण करना (गणनायक बनना) चाहे और वह अपरिच्छन्न (आचारांगादि सूत्रों के परिज्ञान से रहित) हो तो उसे गणधारण करना कल्पता है ?[1]

उत्तर—उसे गणधारण करना नहीं कल्पता है।

प्रश्न—हे भगवन् ! यदि वह परिच्छन्न (आचारांगादि सूत्रों का ज्ञाता) हो तो उसे गणधारण करना कल्पता है ?

उत्तर—हाँ उसे गणधारण करना कल्पता है।

सूत्र २

भिक्खू य इच्छेज्जा गणं धारेत्तए,
नो से कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता गणं धारेत्तए।
कप्पइ से थेरे आपुच्छित्ता गणं धारेत्तए।
थेरा य से वियरेज्जा,
एवं से कप्पइ गणं धारेत्तए।
थेराय से नो वियरेज्जा,

---

१ ठाणांग अ० ६, सूत्र ४७५—छह स्थान युक्त अणगार को गणधारण करना कल्पता है।

एवं से नो कप्पइ गणं धारेत्तए।
जं णं थेरेहिं अविइण्णं गणं धारेज्जा
से सन्तरा छेओ वा परिहारो वा।
साहम्मिया उट्ठाए विहरंति नत्थि णं तेसिं केइ
छेओ वा परिहारो वा ॥२॥

यदि कोई भिक्षु गणधारण करना चाहे तो—स्थविरों को पूछे बिना गण-धारण करना नहीं कल्पता है।

स्थविरों को पूछ करके ही गणधारण करना कल्पता है।

यदि स्थविर अनुज्ञा प्रदान करें तो गणधारण करना कल्पता है।

यदि स्थविर अनुज्ञा प्रदान न करें तो गणधारण करना नहीं कल्पता है।

यदि स्थविरों की अनुज्ञा प्राप्त किए विना ही गणधारण करता है तो अनुज्ञा के विना जितने दिन गणधारण करता है वह उतने ही दिन की दीक्षा का छेद या परिहार तपरूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है किन्तु उसके साथ जो सार्धमिक साधु विचरते हैं वे दीक्षा छेद या परिहारतपरूप प्रायश्चित्त के पात्र नहीं हैं। उन्हें केवल आलोचना करना आवश्यक है।

उपाध्यायपदार्हताविधानम्

सूत्र ३

तिवासपरियाए समणे निग्गंथे—
आयारकुसले संजमकुसले, पवयणकुसले
पण्णत्तिकुसले, संगहकुसले, उवग्गहकुसले,
अक्खयायारे[1] अभिन्नायारे असबलायारे
असंकिलिट्ठायारचित्ते[2],
बहुस्सुए, बब्भागमे,
जहण्णेणं आयारपकप्प-धरे,
कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ॥३॥

उपाध्याय पद की योग्यता का विधान

तीन वर्ष की दीक्षा पर्यायवाला श्रमण निर्ग्रन्थ—यदि आचार संयम प्रवचन प्रज्ञप्ति (स्व—पर सिद्धान्त कथन) संग्रह (नवदीक्षित हित सम्पादन) और उपग्रह (आज्ञाधीन अणगारों पर उपकार) करने में कुशल हो तथा अक्षत (परिपूर्ण) अभिन्न (अखंडित) अशबल (निरतिचार) चरित्रवाला हो, असंक्लिष्ट

---

१ अक्खुया०। २ चरित्ते।

(संक्लेशरहित) आचार एवं असंक्लिष्ट चित्तवाला हो, बहुश्रुत एवं बहु आगमज्ञ हो और जघन्य आचार प्रकल्पधर हो[1] तो उसे उपाध्याय पद देना कल्पता है।

उपाध्यायपदानर्हताविधानम्

सूत्र ४

सच्चेव णं से तिवास परियाए समणे निग्गंथे—
नो आयारकुसले, नोसंजमकुसले, नो पवयणकुसले,
नो पण्णत्तिकुसले, नो संगहकुसले, नो उवग्गहकुसले,
खयायारे, भिन्नायारे सबलायारे
संकिलिट्ठायारचित्ते, अप्पसुए, अप्पागमे
नो कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ॥४॥

उपाध्याय पद की अयोग्यता का विधान

वह यदि आचार संयम-प्रवचन प्रज्ञप्ति संग्रह और उपग्रह में कुशल न हो तथा क्षत—भिन्न शबल चारित्रवाला हो, संक्लिष्ट आचार एवं चित्तवाला हो, अल्पश्रुत एवं अल्प आगमज्ञ हो तो उसे उपाध्याय पद देना नहीं कल्पता है।

आचार्यादिपदार्हताऽनर्हताविधानम्

सूत्र ५

पंचवास परियाए समणे णिग्गंथे—
आयारकुसले, संजमकुसले, पवयणकुसले,
पण्णत्ति-कुसले, संगहकुसले, उवग्गहकुसले
अक्खयायारे, अभिन्नायारे, असबलायारे
असंकिलिट्ठायारचित्ते, बहुस्सुए, बब्भागमे
जहण्णेणं दस-कप्प-ववहारधरे
कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ॥५॥

आचार्य और उपाध्याय पद की योग्यता और अयोग्यता का विधान

पांच वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ—यदि आचार संयम प्रवचन-प्रज्ञप्ति संग्रह और उपग्रह में कुशल हो तथा अक्षत-अभिन्न अशबल चारित्रवाला हो, असंक्लिष्ट आचार एवं चित्तवाला हो, बहुश्रुत एवं बहु

---

१ ठाणांग अ०५, उ० २, सूत्र ४३३—इस सूत्र में पांच आचार प्रकल्पों का नामोल्लेख मात्र है—इनका विस्तृत वर्णन निशीथ सूत्र में है अतः निशीथ-सूत्र का ज्ञाता ही उपाध्याय पद के योग्य होता है।

आगमज्ञ हो जघन्य दशा[1], कल्प[2] एवं व्यवहार का धारक (ज्ञाता) हो तो उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है।

सूत्र ६

सच्चेव णं से पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे—
नो आयार-कुसले, नो संजमकुसले, नोपवयणकुसले,
नो पण्णत्ति-कुसले, नो संगह-कुसले, नो उवग्गहकुसले,
खयायारे, भिन्नायारे, सबलायारे
संकिलिट्ठायारचित्ते, अप्पसुए, अप्पागमे
नो कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ॥६॥

वह यदि आचार संयम प्रवचन प्रज्ञप्ति संग्रह और उपग्रह में कुशल न हो तथा क्षत भिन्न शवल[3] चारित्र वाला हो, संक्लिष्ट आचार एवं चित्त वाला हो, अल्पश्रुत और अल्प आगमज्ञ हो तो उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना नहीं कल्पता है।

सूत्र ७

अट्ठवास-परियाए समणे निग्गंथे—
आयारकुसले, संजमकुसले, पवयणकुसले,
पण्णत्तिकुसले, संगहकुसले, उवग्गहकुसले,
अक्खयायारे, अभिन्नायारे, असबलायारे
असंकिलिट्ठायारचित्ते, बहुस्सुए, बब्भागमे
जहण्णेणं ठाण-समवाय-धरे
कप्पइ आयरियत्ताए जाव
(उवज्झायत्ताए, पवत्तित्ताए, थेरत्ताए, गणित्ताए)
गणावच्छेइयत्ताए, उद्दिसित्तए ॥७॥

आचार्यादि पदों[4] की योग्यता और अयोग्यता का विधान

आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाल श्रमण निर्ग्रन्थ यदि आचार संयम प्रवचन

---

१ दशा संक्षिप्त नाम है, पूरा नाम है, आचारदशा—इसका अपरनाम है दशा श्रुत स्कंध।

२ कल्प संक्षिप्तनाम है, पूरा नाम है बृहत्कल्प।

३ समवायांग समवाय २१, सूत्र में इक्कीस शवल दोषों के नाम है तथा आचार दशा की दूसरी दशा में भी इक्कीस शवल दोषों के नाम है।

४ यहाँ आदि पद से आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी और गणावच्छेदक ये छह पद लिए गए है।

प्रज्ञप्ति-संग्रह और उपग्रह में कुशल हो तथा अक्षत-अभिन्न-अशवल चारित्र वाला हो, असंक्लिष्ट आचार एवं चित्तवाला हो, बहुश्रुत एवं बहुआगमज्ञ हो, जघन्य स्थानाङ्ग-समवायाङ्ग का धारक हो तो उसे आचार्य यावत् (उपाध्याय प्रवर्तक, स्थविर, गणी और) गणावच्छेदक पद देना कल्पता है।

सूत्र ८

सच्चेव णं से अट्ठवासपरियाए समणे णिग्गंथे
नो आयारकुसले, नो संजमकुसले, नो पवयणकुसल,
नो पन्नत्तिकुसले, नो संगहकुसले, नो उवग्गहकुसले,
खयायारे, भिन्नायारे सबलायारे,
संकिलिट्ठायारचित्ते, अप्पसुए, अप्पागमे
नो कप्पइ आयरियत्ताए जाव-गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्तए ॥८॥

वह यदि आचार-संयम-प्रवचन-प्रज्ञप्ति संग्रह और उपग्रह में कुशल न हो तथा क्षत भिन्न शवल चारित्रवाला हो, संक्लिष्ट आचार एवं चित्तवाला हो, अल्पश्रुत और अल्प आगमज्ञ हो तो उसे आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी और गणावच्छेदक पद देना नही कल्पता है।

विशेषार्थ—इस तृतीय उद्देशक के सूत्र ११ और १२ में कहे अनुसार आचार्यादि की अकस्मात् मृत्यु हो जाय, उस समय गण की सुव्यवस्था के लिए यदि कोई भिक्षु आचार्यादि पदों में से किसी एक पद का महान् उत्तरदायित्व स्वयं लेना चाहे तो उसे प्रथम सूत्र के अनुसार आचारांगादि का ज्ञाता होना चाहिए और द्वितीय सूत्र के अनुसार स्थविरों से आज्ञा भी प्राप्त करनी चाहिए।

अथवा व्यवस्था के लिए गण जिस समय आचार्यादि पदों के योग्य भिक्षु का चयन करना चाहे उस समय अधिक दीक्षा पर्याय वाले बहुश्रुत भिक्षु गण में न हो तो तृतीय सूत्र के अनुसार उपाध्याय पद के लिए कम से कम तीन वर्ष की दीक्षा पर्यायवाले का पंचमसूत्र के अनुसार आचार्य पद के लिए कम से कम पांच वर्ष की दीक्षा पर्यायवाले का और सप्तम सूत्र के अनुसार आचार्यादि सभी पदों के लिए कम से कम आठ वर्ष की दीक्षा पर्यायवाले का ही चयन करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि आचार्यादि पदों के लिए सूत्रोक्त दीक्षा-पर्यायों से अल्प दीक्षा पर्यायवालों का चयन करना सर्वथा अनुचित है।

इसी प्रकार उपाध्याय पद के लिए कम से कम आचार प्रकल्पधर अर्थात् निशीथ सूत्र के ज्ञाता का, आचार्य पद के लिए कम से कम आचारदशा—

(दशाश्रुत स्कन्ध) वृहत्कल्प-व्यवहारसूत्र के ज्ञाता का और आचार्यादि सभी पदों के लिए कम से कम स्थानांग-समवायांग के ज्ञाता का ही चयन करना चाहिए। इससे अल्पश्रुत वाले का चयन करना सर्वथा अनुचित है।

आचार्यादि पदों के लिए जिस भिक्षु का चयन किया जाय उसकी दीक्षा-पर्याय और उसका श्रुतज्ञान यदि अत्यल्प भी हो तो भी उसमें सूत्रोक्त सभी गुण होने ही चाहिए।

गण की व्यवस्था के लिए आचार्यादि पदों में से किसी एक पद का जो उत्तरदायित्व स्वीकार करना चाहे उस भिक्षु को अथवा आचार्यादि पद के लिए गण जिस भिक्षु का चयन करे उसके लिए गण को स्थविरों की सम्मति अवश्य लेनी चाहिए—क्योंकि उनका ज्ञान तथा उनके अनुभव परिपक्व होते है। अतएव वे दीर्घदर्शी होते है।

भाष्यकार का कथन है कि अल्पश्रुत या अल्पदीक्षा पर्यायवाला भिक्षु भी यदि आचार्यादि पदों के योग्य लक्षणवाला हो तो उसको ही आचार्यादि पदों पर प्रतिष्ठित करना चाहिए। वहुश्रुत या वहुत वर्षो की दीक्षा पर्यायवाला भिक्षु भी यदि आचार्यादि पदों के योग्य लक्षण वाला न हो तो उसे आचार्यादि पदों पर प्रतिष्ठित नहीं करना चाहिए।

आचार्यादि पदों के योग्य लक्षणवाला भिक्षु गण में कौन है? इसका निर्णय स्थविर ही कर सकते हैं—इसलिए उनकी सम्मति से ही योग्य भिक्षु को आचार्यादि पदों पर प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए।

विशेप जिज्ञासा वाले पाठक भाष्य का अध्ययन करें।

निरुद्धपर्यायस्याऽऽचार्यादिपदप्रदान-विधानम्

सूत्र ६

निरुद्धपरियाए समणे निग्गंथे
कप्पइ तद्दिवसं आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।
से किमाहु भंते!?
अत्थि णं थेराणं तहारूवाणि
कुलाणि, कडाणि, पत्तियाणि, थेज्जाणि,
वेसासियाणि सम्मयाणि सम्मुइकराणि,
अणुमयाणि बहुमयाणि भवंति
तेहिं कडेहिं, तेहिं पत्तिएहिं, तेहिं थेज्जेहिं
तेहिं वेसासिएहिं, तेहिं सम्मएहिं, तेहिं सम्मुइकरेहिं
तेहिं अणुमएहिं तेहिं बहुमएहिं।

जं से निरुद्धपरियाए समणे निग्गंथे
कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए तद्दिवसं ॥९॥

निरुद्धपर्याय-और निरुद्धवर्ष-पर्यायवाले को आचार्यादि पद प्रदान करने का विधान

निरुद्ध पर्यायवाला श्रमण निर्ग्रन्थ जिस दिन पुनः दीक्षित हो उसी दिन उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है।

प्रश्न—हे भगवन्! आपने ऐसा क्यों कहा?

उत्तर—उसने स्थविरों को और तथारूप (आचार्यादि के अनुशासन में और गणरूप में रहने वाले) कुलों को (हित सम्पादन से) उपकृत (विनयादि से), प्रीतियुक्त (वैयावृत्यादि से), स्थिर (सरलता से), विश्वस्त (इष्ट प्रयोजनार्थ), सम्मत (दानादि के लिए), प्रमुदित (गणहित के सम्पादन से), अनुमत और (बाल-वृद्ध-ग्लान आदि के अत्यधिक इष्ट होने से) बहुमत किया है, अतः उन उपकृत, प्रीतियुक्त, स्थिर, विश्वस्त, सम्मत, प्रमुदित, अनुमत और बहुमत स्थविरों और कुलों द्वारा (जिस दिन वह पुनः दीक्षित हो उसी दिन) आचार्य या उपाध्याय पद देने योग्य है।

सूत्र १०

निरुद्धवासपरियाए समणे णिग्गंथे
कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए
समुच्छेयकप्पंसि।
तस्स णं आयार-पकप्पस देसे अवट्ठिए,
से य 'अहिज्जिस्सामि' त्ति अहिज्जेज्जा,
एवं से कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।
से य 'अहिज्जिस्सामि' त्ति नो अहिज्जेज्जा
एवं से नो कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए॥१०॥

कल्प का समुच्छेद (आचार्य के दिवंगत) होने पर निरुद्धवर्ष पर्यायवाले श्रमण को आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है। यदि वह आचार प्रकल्प (निशीथ सूत्र) का एक देश (एक विभाग) अवस्थित (पठित) हो और शेष आचार कल्प को पढ़ूंगा—ऐसा संकल्प रखता हो तो।

"शेष आचार कल्प को पढ़ूंगा" ऐसा संकल्प रखकर भी यदि वह अध्ययन नहीं करता हो तो उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना नहीं कल्पता है।

विशेषार्थ—नवम् सूत्र में 'निरुद्ध पर्याय' और दशम सूत्र में 'निरुद्ध वर्ष पर्याय' ये दो वाक्य हैं। भाष्यकार ने इनकी व्याख्या इस प्रकार की है।

(क) अनेकवर्षों तक जिस भिक्षु ने अणगारधर्म का आचरण किया है और जो नवम् सूत्रोक्त सभी गुणों से युक्त है। यदि किसी विशेष कारण से उसके स्वजन संबंधी उसे बलपूर्वक भिक्षु वेष से मुक्त कर ले जावें तो यहाँ वह 'निरुद्धपर्याय' वाला श्रमण निर्ग्रन्थ माना गया है। अर्थात् उसकी केवल दीक्षापर्याय निरुद्ध (नष्ट) हुई है। भाव से तो वह भिक्षु ही है—क्योंकि उसने वेद मोहनीय के उदय से अब्रह्मचर्य-सेवन के लिए स्वेच्छा से भिक्षु वेप का परित्याग नहीं किया है—अतः गण आचार्य के अभाव में जिस दिन वह पुनः दीक्षित हो उसी दिन उसे आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित कर सकता है।

(ख) जिस भिक्षु की दीक्षा-पर्याय केवल तीन वर्ष की हुई है और श्रुत का अध्ययन भी उसका परिपूर्ण नहीं हुआ है—यदि किसी विशेष कारण से उसके स्वजन सम्बन्धी भी उसे बलपूर्वक भिक्षुवेष से मुक्त कर घर ले जावें वह यहाँ 'निरुद्धवर्ष पर्याय' श्रमण निर्ग्रन्थ माना गया है।

आचार्य के अभाव में गण, जिस दिन वह पुनः दीक्षित हो उसी दिन उसे आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित कर सकता है, यदि वह आचार्यादि पदों के योग्य लक्षणों से युक्त हो, उसके नेतृत्व में गण की वृद्धि सुनिश्चित हो और उसे 'निशीथसूत्र' स्वनाम के समान कण्ठस्थ हो तो।

विशेष जानने के लिए भाष्य का पठन करना चाहिए।

आचार्याद्यभावेऽवस्थाननिषेधः

सूत्र ११

निग्गंथस्स णं नव-डहर-तरुणस्स आयरिय-उवज्झाए वीसंभेज्जा[1]।
नो से कप्पइ अणायरिय-उवज्झायस्स होत्तए।
कप्पइ से पुव्वं आयरियं उद्दिसावेत्ता तओ पच्छा उवज्झायं।
से किमाहु भंते! ?
दु-संगहिए समणे निग्गंथे,
तं जहा—१ आयरिएणं, २ उवज्झाएण य ॥११॥

आचार्य और उपाध्याय के विना रहने का निषेध

नवदीक्षित, बालक या तरुण निर्ग्रन्थ के आचार्य और उपाध्याय की यदि मृत्यु हो जावे तो उसे आचार्य और उपाध्याय की स्थापना किए विना रहना कल्पता नहीं है।

---

१ वीसुंभेज्जा।

पहले आचार्य की और बाद में उपाध्याय की स्थापना करके ही उसे रहना कल्पता है।

प्रश्न—हे भगवन्! आपने ऐसा क्यों कहा?

उत्तर—श्रमण निर्ग्रन्थ दो से सुरक्षित रहता है;—यथा—आचार्य से और उपाध्याय से।

सूत्र १२

निग्गंथीए णं नव-डहर-तरुणीए आयरिय-उवज्झाए पवत्तिणी य वीसंभेज्जा,
नो से कप्पइ अणायरिय-उवज्झाइयाए अपवत्तिणीयाए होत्तए।
कप्पइ से पुव्वं आयरियं उद्दिसावेत्ता
तओ उवज्झायं, तओ पच्छा पवत्तिणिं।
से किमाहु भंते!?
ति-संगहिया समणी निग्गंथी,
तं जहा:—
१ आयरिएणं २ उवज्झाएणं, ३ पवत्तिणीए य।

नवदीक्षिता बालिका या तरुणी निर्ग्रन्थी के आचार्य उपाध्याय और प्रवर्तिनी की यदि मृत्यु हो जावे तो उसे आचार्य उपाध्याय और प्रवर्तिनी की स्थापना किए बिना रहना कल्पता नहीं है।

पहले आचार्य की बाद में उपाध्याय की और बाद में प्रवर्तिनी की स्थापना करके ही उसे रहना कल्पता है।

प्रश्न—हे भगवन्! आपने ऐसा क्यों कहा?

उत्तर—श्रमणी निर्ग्रन्थी तीन से सुरक्षित रहती है-यथा—आचार्य से उपाध्याय और प्रवर्तिनी से।

मैथुनप्रतिसेवनविरतस्य पवदान-विधानम्

सूत्र १३

भिक्खू अ गणाओ अवक्कम्म मेहुण धम्मं पडिसेवेज्जा,
तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव
गणावच्छेइयत्तं उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।
तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं
चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि[1]

+ चिह्नित पदे न स्तः क्वचित्   १ 'उवट्ठियंमि' इत्यपि क्वचित्।

ठियस्स, उवसंतस्स, उवरयस्स, पडिविरयस्स, निव्विकारस्स,[1]
एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव-गणावच्छेइययत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥१३॥

मैथुन विरत को आचार्यादि पद देने का विधान

यदि कोई भिक्षु गण को तथा श्रमण वेष को छोड़कर मैथुन-धर्म का प्रति सेवन करे और बाद में (प्रतिबोध पाने पर) पुनः दीक्षित हो जाए तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य''''यावत्''''गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथा वर्ष उपस्थित (कुछ व्यतीत) होने पर यदि वह उपशान्त (वेदोदय शान्त), उपरत (मैथुन प्रवृत्ति से निवृत्त), प्रति-विरत (मैथुन सेवन से ग्लानि प्राप्त) और निर्विकार (विषय-वासनारहित) हो जाए तो उसे आचार्य''''यावत्''''गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

सूत्र १४

गणावच्छेइए गणावच्छेइयत्तं अनिक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेंज्जा,
जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ
आयरियत्तं वा जाव—गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥१४॥

यदि गणावच्छेदक अपना पद व वेष छोड़े बिना मैथुनधर्म का प्रतिसेवन करे और बाद में प्रतिबोध पाने पर पुनः दीक्षित हो जाए तो भी उसे उक्त कारण से यावज्जीवन आचार्य''''यावत्''''गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

सूत्र १५

गणावच्छेइए गणावच्छेइयत्तं निक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा,
तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ
आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।
तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं
चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि

---

१ न दृश्यते क्वचिदं पदं।

ठियस्स, उवसंतस्स, उवरयस्स
पडिविरयस्स, निव्विगारस्स
एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव-गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥१५॥

'यदि गणावच्छेदक (गुरु के समक्ष) अपने पद व वेष को छोड़कर मैथुन धर्म' का प्रतिसेवन करे और बाद में प्रतिबोध पाने पर पुनः दीक्षित हो जाए तो (भी) उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य····यावत्····गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

'तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथा वर्ष उपस्थित होने पर यदि वह 'उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

सूत्र १६

आयरिय-उवज्झाए आयरिय-उवज्झायत्तं
अनिक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा,
जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ
आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥१६॥

यदि आचार्य या उपाध्याय अपने पद व वेष को छोड़े बिना मैथुन धर्म का प्रतिसेवन करे और बाद में पुनः दीक्षित हो जाए तो (भी) उसे उक्त कारण से यावज्जीवन 'आचार्य····यावत्····गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

सूत्र १७

आयरिय-उवज्झाए आयरिय-उवज्झायत्तं
निक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवज्जा,
तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ
आयरियत्तं वा जाव-गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।
तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं
चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि
ठियस्स, उवसंतस्स, उवरयस्स,
पडिविरयस्स, निव्विगारस्स,
एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव-गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥१७॥

यदि आचार्य और उपाध्याय अपने पद व वेष को छोड़कर मैथुन धर्म का प्रतिसेवन करे और बाद में पुनः दीक्षित हो जाए तो (भी) उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथा वर्ष उपस्थित होने पर यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

सूत्र १८

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओहायइ,
तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ
आयरियत्तं वा जाव-गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।
तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं
चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि
ठियस्स, उवसंतस्स, उवरयस्स,
पडिविरयस्स, निव्विगारस्स
एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव-गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥१८॥

यदि कोई भिक्षु गण व वेष को छोडकर तथा परदेश में जाकर मैथुनधर्म का प्रतिसेवन करे और बाद में (जिस गण व देश को छोड़कर गया उसी गण व देश में आकर) पुनः दीक्षित हो जाए तो (भी) उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य या गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथा वर्ष उपस्थित होने पर यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए तो उसे आचार्य यावत गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

सूत्र १९

गणावच्छेइए गणावच्छेइयत्तं अनिक्खिवित्ता ओहाएज्जा,
जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ
आयरियत्तं वा जाव-गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥१९॥

यदि गणावच्छेदक अपना पद व वेप छोड़े बिना परदेश में जाकर मैथुन-धर्म का प्रति सेवन करे और बाद में पुनः दीक्षित हो जाए तो (भी) उसे उक्त कारण से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

सूत्र २०

गणावच्छेइए गणावच्छेइयत्तं निक्खिवित्ता ओहाएज्जा,
तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नोकप्पइ
आयरियत्तं वा जाव—गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।
तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं,
चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि
ठियस्स, उवसंतस्स, उवरयस्स
पडिविरयस्स, निव्विगारस्स
एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव—गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥२०॥

यदि गणावच्छेदक अपना पद व वेप छोड़कर तथा परदेश में जाकर मैथुन-धर्म का प्रतिसेवन करे और बाद में पुनः दीक्षित हो जाए तो (भी) उसे उक्त कारण से तीन वर्षपर्यन्त आचार्य-यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथा वर्ष उपस्थित होने पर यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

सूत्र २१

आयरिय-उवज्झाए आयरिय-उवज्झायत्तं
अनिक्खिवित्ता ओहाएज्जा,
जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ
आयरियत्तं वा जाव-गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

यदि आचार्य या उपाध्याय अपना पद व वेप छोड़े बिना परदेश में जाकर मैथुनधर्म का प्रतिसेवन करे और बाद में पुनः दीक्षित हो जाए तो (भी) उसे उक्त कारण से यावज्जीवन आचार्य-यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

सूत्र २२

आयरिय-उवज्झाए आयरिय-उवज्झायत्तं
निक्खिवित्ता ओहाएज्जा,
तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ
आयरियत्तं वा जाव-गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।
तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं
चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि
ठियस्स, उवसंतस्स, उवरयस्स,
पडिविरयस्स, निव्विगारस्स
एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव-गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥२२॥

यदि आचार्य या उपाध्याय अपना पद व वेष छोड़कर तथा परदेश में जाकर मैथुनधर्म का प्रतिसेवन करे और बाद में पुनः दीक्षित हो जाए तो (भी) उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य-यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथा वर्ष उपस्थित होने पर यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

विशेषार्थ—अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल महाप्रमाद एवं महादोष (महापाप) है।[1] अतः इस महापाप से आत्मा को विमुक्त करने के लिए ब्रह्मचर्य महाव्रत-पालन करने का विधान किया गया है। अन्य महाव्रतों की अपेक्षा यह महाव्रत उग्र एवं दुराराध्य है।[2] अतएव इसकी आराधना में सहायक दश समाधिस्थान कहे गये हैं[3] और इसकी आराधना इतनी महान् है कि इसके आराधक को देव-दानव भी नमस्कार करते हैं।[4]

ऐसे महान् ब्रह्मचर्य महाव्रत का आराधक सामान्य भिक्षु या आचार्यादि पद पर प्रतिष्ठित भिक्षु वेदमोहनीयजन्य कामवासना से अभिभूत होकर

---

१ दश० अ० ६, गाथा १५।
२ उत्त० अ० १९, गा० २८।
३ उत्त० अ० १६। गद्यभाग
४ उत्त० अ० १६, गा० १६।

अब्रह्मचर्य का सेवन कर लेता है तो वह उपशान्त होने पर एवं प्रतिबोध पाने पर पुनः दीक्षित किया जा सकता है या नहीं और आचार्यादि पद पर भी पुनः प्रतिष्ठित किया जा सकता है या नहीं ? इन दो शंकाओं का समाधान सूत्र १३ से २२ तक अर्थात् इन दश सूत्रों में किया गया है।

समाधान इस प्रकार है—

पुरुष वेद आदि तीनों वेद देशघाति प्रकृतियाँ हैं—अतः इनका उदय होने पर भी भिक्षु का विवेक सर्वथा विलुप्त नहीं होता है—इस तथ्य को आधारभूत मानकर इन सूत्रों में कहा गया है कि जो भिक्षु वेष व पद का गौरव अक्षुण्ण रखने के लिए अर्थात् मेरे इस अकृत्य से संघ या गण की अवहेलना न हो अतः विदेश जाकर और वेष छोड़कर अब्रह्मचर्य सेवन करता है अथवा अब्रह्मचर्य सेवन से पूर्व वेदोदय की उपशान्ति के लिए स्थविर निर्दिष्ट विकृति-परित्याग आदि अनेक प्रकार की उपशम-चिकित्सा करता है, फिर भी वेदोदय उपशान्त न हो तो अपने पद पर योग्य भिक्षु को स्थापित कर और भाष्योक्त विधि से वेष का परित्यागकर अब्रह्मचर्य का सेवन करता है।

यदि वह कुछ समय बाद उपशान्त हो जाए या प्रतिबोध पाकर पुनः दीक्षित होना चाहे तो दीक्षित किया जा सकता है। यद्यपि मोहोदय से वह आत्मनिग्रह में असमर्थ रहा है फिर भी स्वयं के असंयत आचरण से गण या संघ कलंकित न हो, इसके लिए भी उसकी आत्मा प्रयत्नशील रही है अतः उसे पुनरुत्थान का अवसर प्रदान किया है। यदि वह तीन वर्ष तक निरन्तर उपशान्त रहे तो आचार्यादि पदों पर भी पुनः प्रतिष्ठित किया जा सकता है—किन्तु वेदमोहनीय का प्रबल उदय होने पर जो भिक्षु स्वच्छन्दवृत्ति से वेष व पद का परित्यागकर अब्रह्मचर्य सेवन कर लेता है तो वह उपशान्त होने पर या प्रतिबोध पाने पर पुनः दीक्षित तो किया जा सकता है पर आचार्यादि पदों पर पुनः प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता है।

भाष्यकार ने इन सूत्रों का विशद विवेचन किया है अतः जिज्ञासुओं को भाष्य का अध्ययन करना चाहिए।

बहुशो माया-मृषादिसेविनां आचार्यादिपद-निषेध—

सूत्र २३

भिक्खू य बहुस्सुए बब्भागमे
बहुसो बहु आगाढागाढेसु कारणेसु
माई मुसावाई असुई पावजीवी,
जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ

आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥२३॥

मायावी यावत् पापजीवी बहुश्रुत भी आचार्यादि पदों के अनधिकारी है।

बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ भिक्षु अनेक प्रगाढ़ (अनिवार्य गम्भीर एवं गुप्त) कारणों के होने पर भी यदि अनेकबार मायावी, मृषावादी, अशुचि (उत्सूत्र भाषी) और पापजीवी हो जाए तो उसे उक्त कारणों से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

सूत्र २४

गणावच्छेइए बहुस्सुए बब्भागमे
बहुसो बहु-आगाढा-गाढेसु कारणेसु
माई, मुसावाई, असुई, पावजीवी,
जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ
आयरियत्तं वा जाव, गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥२४॥

बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ, गणावच्छेदक अनेक प्रगाढ़ कारणों के होने पर भी यदि अनेक बार मायावी मृषावादी अशुचि (उत्सूत्रभाषी) और पापजीवी हो जाए तो उसे उक्त कारणों से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

सूत्र २५

आयरिय-उवज्झाए बहुस्सुए बब्भागमे
बहुसो बहु-आगाढागाढेसु कारणेसु
माई, मुसावाई, असुई, पावजीवी,
जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ
आयरियत्तं वा जाव—गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥२५॥

बहुश्रुत, बहु आगमज्ञ, आचार्य या उपाध्याय अनेक प्रगाढ कारणों के होने पर भी यदि अनेक बार मायावी, मृषावादी अशुचि (उत्सूत्रभाषी) और पापजीवी हो जाए तो उसे उक्त कारणों से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

सूत्र २६

बहवे भिक्खुणो बहुस्सुया बब्भागमा
बहुसो बहु-आगाढागाढेसु कारणेसु
माई, मुसावाई, असुई, पावजीवी,
जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं नो कप्पइ
आयरियत्तं वा जाव—गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥२६॥

बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ अनेक भिक्षु अनेक प्रगाढ कारणों के होने पर भी यदि अनेक वार मायावी मृषावादी अशुचि (उत्सूत्र भाषी) और पापजीवी हो जाए उन्हें उक्त कारणों से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

सूत्र २७

बहवे गणावच्छेइया बहुस्सुया, बब्भागमा,
बहुसो बहु-आगाढागाढेसु कारणेसु
माई, मुसावाई, असुई, पावजीवी,
जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं नो कप्पइ
आयरियत्तं वा जाव—गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥२७॥

बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ, अनेक गणावच्छेदक अनेक प्रगाढ कारणों के होने पर भी यदि अनेक बार मायावी मृषावादी अशुचि (उत्सूत्रभाषी) और पापजीवी हो जाएँ तो उन्हें उक्त कारणों से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

सूत्र २८

बहवे आयरि-उवज्झाया बहुस्सुया बब्भागमा
बहुसो बहुआगाढागाढेसु कारणेसु,
माई, मुसावाई, असुई, पावजीवी,
जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं नो कप्पइ
आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥२८॥

बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ अनेक आचार्य या अनेक उपाध्याय अनेक प्रगाढ कारणों के होने पर भी यदि अनेक बार मायावी, मृषावादी, अशुचि (उत्सूत्र

भाषी) और पापजीवी हो जाएँ तो उन्हें उक्त कारणों से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

सूत्र २९

बहवे भिक्खुणो, बहवे गणावच्छेइया
बहवे आयरिय-उवज्झाया
बहुस्सुया बब्भागमा
बहुसो बहु-आगाढागाढेसु कारणसु
माई मुसावाई, असुई, पावजीवी,
जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं
नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

त्ति बेमि ॥२९॥

बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ अनेक भिक्षु, अनेक गणावच्छेदक या अनेक आचार्य-उपाध्याय अनेक प्रगाढ कारणों के होने पर भी यदि अनेक बार मायावी मृषावादी अशुचि (उत्सूत्र भाषी) और पापजीवी हो जाए तो उन्हें उक्त कारणों से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

विशेषार्थ—वेद मोहनीय के प्रबल उदय से अल्पश्रुत या बहुश्रुत भिक्षु भी एकबार मैथुन सेवन कर ले तो उसका वह दोष—सेवन क्षम्य कोटि का है अर्थात् उपशान्त होने पर या प्रतिबोध पाने पर उसे पुनः दीक्षित किया जा सकता है और निरन्तर तीन वर्ष पर्यन्त उपशान्त रहने पर उसे आचार्यादि पद पर भी प्रतिष्ठित किया जा सकता है। यह पूर्वोक्त सूत्रों का अभिप्राय है। किन्तु अनेक आगमों के ज्ञाता बहुश्रुत भिक्षु भी यदि सूत्र २३ में उक्त दोषों में से किसी एक दोष का या सभी दोषों का बार-बार सेवन करें तो उनका वह दोष-सेवन क्षम्य कोटी का नहीं है अर्थात् अक्षम्य है।

गण कुल या संघ सम्बन्धी प्रगाढ कारणों से भी यदि बहुश्रुत ने सूत्रोक्त दोषों का बार-बार सेवन किया हो तो भी उसका वह दोष-सेवन अक्षम्य है।

बहुश्रुत भिक्षु का बार-बार दोष सेवन भी जब अक्षम्य है तो अल्पश्रुत (अगीतार्थ) का बार-बार दोष-सेवन तो सर्वथा अक्षम्य है ही। पर यहाँ अक्षम्य की भी एक सीमा है। अतः उस सीमा के अनुसार उसे यावज्जीवन आचार्यादि पद पर प्रतिष्ठित करने का सर्वथा निषेध है।

भाष्यकार ने कुछ अन्य प्रकार के भिक्षुओं को भी आचार्यादि पद देने

का निषेध किया है किन्तु यावज्जीवन के लिए निषेध नहीं किया है। यथा—

(१) अवहुश्रुत—जिसने निशीथादि सूत्रों का अध्ययन नहीं किया है।

(२) अवम—जिसकी दीक्षा पर्याय तीन वर्ष की नहीं हुई है।

(३) प्रतिसेवक—अकारण पांच प्रकार के प्रायश्चित्त स्थानों का सेवन करने वाला।

(४) आत्मचिन्तक—जिन कल्पी मुनि—जो अपनी ही आत्मशुद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है।

(५) निरपेक्ष—वाल, वृद्ध और ग्लान की सेवा शुश्रूषा न करने वाला अर्थात् इनकी उपेक्षा करने वाला।

(६) प्रमत्त—पांच प्रकार के प्रमादों में से किसी एक प्रमाद से युक्त।

(७) असत्य रुचि—मृषाभाषण या असंयम में रुचि रखने वाला।

(८) मायी—बार-बार माया का प्रतिसेवन करने वाला।

(९) अपलक्षण—आचार्यादि पदों के अयोग्य लक्षण वाला।

यदि अवहुश्रुत वहुश्रुत हो जावे, अवम तीन वर्ष की दीक्षा पर्यायवाला हो जावे, प्रतिसेवक अप्रतिसेवक हो जावे, अयत अयतना से विरत हो जावे, निरपेक्ष सापेक्ष हो जावे, प्रमत्त अप्रमत्त हो जावे और असत्यरुची एवं मायी सत्यरुची तथा अमायी हो जावे तो आचार्यादि पदों के योग्य हो जाता है।

इसी प्रकार जाति, कर्म, शिल्प और शरीर से जो घृणित हैं वे भी आचार्यादि पदों के अयोग्य माने गये है।

सूत्र २३ से २९ पर्यन्त सप्तसूत्र का संक्षिप्त में यही अभिप्राय है।

॥ तइओ उद्देसओ समत्तो ॥

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

आचार्यादीनां वर्षावासे विहारे च साधुसंख्या विधानम्

सूत्र १

नो कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स एगाणियस्स हेमन्त-गिम्हासु चरिए ॥१॥[1]

आचार्य-उपाध्याय और गणावच्छेदक के विहार व वर्षावास में साथ रहने वाले श्रमणों की संख्या का विधान

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में आचार्य या उपाध्याय को अकेला विहार करना नहीं कल्पता है।

सूत्र २

कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स अप्पबिइयस्स हेमन्त-गिम्हासु चरिए ॥२॥

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में आचार्य या उपाध्याय को एक साधु साथ लेकर विहार करना कल्पता है।

सूत्र ३

नो कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पबिइयस्स हेमन्त-गिम्हासु चरिए ॥३॥

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में गणावच्छेदक को एक साधु के साथ विहार करना नहीं कल्पता है।

सूत्र ४

कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पतइयस्स हेमन्त-गिम्हासु चरिए ॥४॥

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में गणावच्छेदक को दो अन्य साधु साथ लेकर विहार करना कल्पता है।

सूत्र ५

नो कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स अप्पबिइयस्स वासावासं वत्थए ॥५॥

वर्षाकाल में आचार्य या उपाध्याय को एक साधु के साथ रहना नहीं कल्पता है।

---

१ चारए, चरित्तए।

सूत्र ६

कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स अप्पतइयस्स वासावासं वत्थए

वर्षाकाल में आचार्य या उपाध्याय को दो साधुओं के साथ रहना कल्पता हैं।

सूत्र ७

नो कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पतइयस्स वासावासं वत्थए।

वर्षाकाल में गणावच्छेदक को दो साधुओं के साथ रहना नहीं कल्पता है।

सूत्र ८

कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पचउत्थस्स वासावासं वत्थए।

वर्षाकाल में गणावच्छेदक को तीन साधुओं के साथ रहना कल्पता है।

सूत्र ९

से गामंसि वा नयरंसि वा निगमंसि वा
रायहाणीए वा, खेडंसि वा, कव्वडंसि वा,
मडंबंसि वा, पट्टणंसि वा, दोणमुहंसि वा,
आसमंसि वा, संवाहंसि वा, सन्निवेसंसि वा,
बहूणं आयरिय-उवज्झायाणं अप्पबिइयाणं
बहूणं गणावच्छेइयाणं अप्पतइयाणं
कप्पइ हेमंत-गिम्हासु चरिए अन्नमन्नं निस्साए।

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में अनेक आचार्य या उपाध्यायों को ग्राम यावत् सन्निवेश में एक-एक साधु के साथ और अनेक गणावच्छेदकों को दो-दो साधुओं के साथ अन्योऽन्य (परस्पर) निश्रा (अधीनता) में रहकर विहार करना कल्पता है।

सूत्र १०

से गामंसि वा नयरंसि वा, निगमंसि वा
रायहाणीए वा, खेडंसि वा, कव्वडंसि वा,
मडंबंसि वा, पट्टणंसि वा, दोणमुहंसि वा,
आसमंसि वा, संवाहंसि वा, सन्निवेसंसि वा
बहूणं आयरिय-उवज्झायाणं अप्पतइयाणं
बहूणं गणावच्छेइयाणं अप्पचउत्थाणं
कप्पइ वासावासं वत्थए अन्नमन्नं निस्साए।

वर्षा ऋतु में अनेक आचार्य या उपाध्यायों को ग्राम यावत् सन्निवेश में तीन-तीन साधुओं के साथ और अनेक गणावच्छेदकों को चार-चार साधुओं के साथ अन्योऽन्य (परस्पर) निश्रा (अधीनता) में रहना कल्पता है।

आचार्यादौ मृते गणवर्तिनां करणीयता विधानम्

सूत्र ११

गामाणुग्गामं दूइज्जमाणे भिक्खू जं पुरओ कट्टु विहरइ,
से य आहच्च वीसंभेज्जा,
अत्थि य इत्थ अन्ने केइ उपसंपज्जणारिहे से[1] उवसंपज्जियव्वे।
नत्थि य इत्थ अन्ने केइ उवसंपज्जणारिहे
तस्स अप्पणो कप्पाए असमत्थाए—
कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसं
अन्ने साहम्मिया विहरंति
तं णं तं णं दिसं उवलित्तए।
नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए।
कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए।
तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परोवएज्जा—
'वसाहि अज्जो ! एगरायं वा दुरायं वा'
एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए।
नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।
जे तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ
से संतरा छेए वा परिहारे वा।

आचार्यादि के दिवंगत होने पर गण के भिक्षुओं का कर्तव्य

(हेमन्त या ग्रीष्म ऋतु में) ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ भिक्षु जिन आचार्यादिकों को पुरोगामी अर्थात् अग्रणी मानकर विहार कर रहा हो उनके (अकस्मात) दिवंगत होने पर गण के भिक्षु उस गण में जो भिक्षु आचार्यादि (आचार्य यावत् गणावच्छेदक) पद के योग्य हों तो उन्हें आचार्यादि पद पर स्थापित करें।

यदि आचार्यादि पद योग्य कोई भिक्षु न हो और स्वयं ने भी आचार कल्प (निशीथ आदि) का अध्ययन समाप्त न किया हो तो उसे मार्ग में विश्राम के लिए एक रात्रि से अधिक न रहने की प्रतिज्ञा लेकर जिस दिशा में अन्य स्वधर्मी विचरते हों उस दिशा में गमन करना कल्पता है।

---

१ कप्पइ से यं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

विहार (मार्ग) में उसे विश्राम के लिए एक रात्रि से अधिक वसना (रहना) नहीं कल्पता है।

यदि रोगादि कारण हो तो एक रात्रि से अधिक वसना कल्पता है।

रोगादि कारणों के समाप्त होने पर यदि कोई भिक्षु कहे कि—हे आर्य! एक या दो रात और वसो तो उसे एक या दो रात और वसना कल्पता है। किन्तु एक या दो रात से अधिक वसे तो वह (जितने दिन-रात रहे) उतने दिन-रात की दीक्षा का छेद या परिहार प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

सूत्र १२

वासावासं पज्जोसविओ भिक्खू य
जं पुरओ कट्टु विहरइ से य आहच्च वीसंभेज्जा
अत्थि य इत्थ अन्ने केइ उवसंपज्जणारिहे से[1] उवसंपज्जियव्वे।
नत्थि य इत्थ अन्ने केइ उवसंपज्जणारिहे
तस्स अप्पणो कप्पाए असमत्थाए
कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए
जण्णं जण्णं दिसं अन्ने साहम्मिया विहरंति
तं णं तं णं दिसं उवलित्तए।
नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए।
कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए।
तंसि च कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा—
'वसाहि अज्जो! एगरायं वा दुरायं वा',
एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए;
नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।
जे तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ,
से संतरा छेए वा परिहारे वा।

वर्षावास में रहा हुआ भिक्षु जिन आचार्यादिकों को पुरोगामी अर्थात् अग्रणी मानकर रह रहा हो उनके (अकस्मात्) दिवंगत होने पर उस समुदाय में जो भिक्षु (आचार्य यावत् गणावच्छेदक) आचार्यादि पद के योग्य हों तो उन्हें आचार्यादि पद पर स्थापित करना चाहिए।

यदि आचार्यादि पद योग्य कोई भिक्षु न हो और स्वयं ने भी आचार कल्प (निशीथ आदि) का अध्ययन समाप्त न किया हो तो उसे मार्ग में एक रात्रि से

---

१ कप्पइ से यं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

अधिक न रहने की प्रतिज्ञा लेकर जिस दिशा में अन्य स्वधर्मी विचरते हों उस दिशा में गमन करना कल्पता है।

विहार (मार्ग) में उसे एक रात्रि से अधिक वसना नहीं कल्पता है।

यदि रोगादि कारण हो तो एक रात्रि से अधिक वसना कल्पता है।

रोगादि कारणों के समाप्त होने पर यदि कोई भिक्षु कहे कि—"हे आर्य! एक या दो रात और वसो" तो उसे एक या दो रात और वसना कल्पता है। किन्तु एक या दो रात से अधिक वसे तो वह (जितने रात रहे) उतने रात की दीक्षा का छेद या परिहार प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

आचार्यानुज्ञाते तत्पश्चात्पददान-विधानम्

सूत्र १३

आयरिय-उवज्झाए गिलायमाणे अन्नयरं वएज्जा—
'अज्जो! ममंसि णं कालगयंसि समाणंसि अयं समुक्कसियव्वे।'
से य समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वे।
से य नो समुक्कसणारिहे नो समुक्कसियव्वे।
अत्थि य इत्थ अन्ने केइ समुक्कसिणारिहे से समुक्कसियव्वे।
नत्थि य इत्थ अन्ने केइ समुक्कसणारिहे से चेव समुक्कसियव्वे।
तंसि च णं समुक्किट्ठंसि परोवएज्जा—
'दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जो! निक्खिवाहि।'
तस्स णं निक्खिवमाणस्स नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा।
जे साहम्मिया[1] अहाकप्पेणं नो उट्ठाए विहरंति
सव्वेसिं तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा।

रुग्ण आचार्य के आदेशानुसार योग्य भिक्षु को आचार्यादि पद देने का विधान

रोगग्रस्त आचार्य या उपाध्याय अपना मरण सन्निकट जानकर संघ के किसी (प्रमुख) साधु से कहें कि—हे आर्य! मेरे कालगत होने पर अमुक साधु को मेरे पद पर स्थापित करना।

(उनके कालगत होने पर) यदि वह (आचार्य निर्दिष्ट) उस पद पर स्थापन करने योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिए।

यदि उस पद पर स्थापन करने योग्य न हो तो स्थापित नहीं करना चाहिए।

---

१ तं साहम्मिया।

यदि संघ में अन्य कोई साधु उस पद के योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिए।

यदि संघ में अन्य कोई भी साधु उस पद के योग्य न हो तो कालगत आचार्य या उपाध्याय जिसके लिए कहकर गए हों—उसी को उस पद पर स्थापित करना चाहिए।

उस (आचार्य निर्दिष्ट) को उस पद पर स्थापित करने के बाद (किसी प्रकार का विवाद उपस्थित होने पर) गीतार्थ कहे कि—"हे आर्य! तुम इस पद के अयोग्य हो। अतः इस पद को छोड़ दो"—(ऐसा कहने पर) यदि वह उस पद को छोड़ दे तो वह दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त का पात्र नहीं होता है।

(यदि न छोड़े तो—जितने दिन वह उस पद पर रहे उतने दिन के दीक्षा-छेद या परिहार-प्रायश्चित्त का पात्र होता है।)

उस (आचार्यादि पद पर स्थित) साधु के साथ जो सार्धमिक साधु कल्प के अनुसार उसे आचार्यादि पद छोड़ने के लिए न कहें तो वे सभी सार्धमिक साधु उक्त कारण से (जितने दिन पूर्वोक्त स्थिति में रहे उतने दिन के) दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित के पात्र होते हैं।

सूत्र १४

आयरिय-उवज्झाए ओहायमाणे[1] अन्नयरं वएज्जा—

'अज्जो! ममंसि णं ओहावियंसि समाणंसि अयं समुक्कसियव्वे।'

से य समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वे,

से य नो समुक्कसणारिहे नो समुक्कसियव्वे।

अत्थिय इत्थ अन्ने केइ समुक्कसणारिहे से समुक्कसियव्वे।

नत्थि य इत्थ अन्ने केइ समुक्कसणारिहे से चेव समुक्कसियव्वे।

तं सि च णं समुक्किट्ठंसि परो वएज्जा—

'दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जो निक्खिवाहि।'

तस्स णं निक्खिवमाणस्स नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा।

जे[2] साहम्मिया अहाकप्पेणं नो उट्ठाए विहरंति

सव्वेसिं तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा।

---

१ ओहायमाणे गच्छेज्जा। २ तं साहम्मिया।

द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग का परित्याग कर जानेवाले आचार्यादि के आदेशानुसार योग्य भिक्षु को आचार्यादि पद प्रदान करने का विधान

तीव्र मोहोदय या तीव्र अशातावेदनीय के उदय से द्रव्य और भावलिंग का परित्याग कर जानेवाले आचार्य या उपाध्याय संघ के किसी प्रमुख साधु से कहें कि—"हे आर्य ! मेरे चले जाने पर अमुक साधु को मेरे पद पर स्थापित करना।

(उनके चले जाने पर) यदि वह उस पद पर स्थापन करने योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिए।

यदि उस पद पर स्थापन करने योग्य न हो तो उसे स्थापित नहीं करना चाहिए।

यदि संघ में अन्य कोई साधु उस पद के योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिए।

यदि संघ में अन्य कोई भी उस पद के योग्य न हो तो आचार्य या उपाध्याय जिसके लिए कहकर गए हों—उसी को उस पद पर स्थापित करना चाहिए।

उस (आचार्य निर्दिष्ट) को उस पद पर स्थापित करने के वाद (किसी प्रकार का विवाद उपस्थित होने पर) गीतार्थ कहें कि—"हे आर्य ! तुम इस पद के अयोग्य हो, अतः इस पद को छोड़ दो' (ऐसा कहने पर) यदि वह उस पद को छोड़ दे तो वह दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त का पात्र नहीं है।

(यदि न छोड़े तो जितने दिन वह उस पद पर रहे उतने दिन के दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त का पात्र होता है।)

उस (आचार्यादि पद पर स्थित) साधु के साथ जो सार्धमिक साधु कल्प के अनुसार उसे आचार्यादि पद छोड़ने के लिए न कहें तो वे सभी सार्धमिक साधु उक्त कारण से (जितने दिन पूर्वोक्त स्थिति में रहे उतने दिन के) दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

कल्पाकस्योपस्थापना-विधानम्

सूत्र १५

आयरिय-उवज्झाए सरमाणे जाव[1] चउराय पंचरायाओ कप्पागं भिक्खु नो उवट्ठावेइ

---

१ परं।

कप्पाए अत्थियाइं से केइ माणणिज्जे
कप्पाए नत्थि से केइ छेए वा परिहारे;वा,
नत्थि याइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए से सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

यावज्जीवन की दीक्षा के विधान

आचार्य या उपाध्याय को कल्पाक (षड्जीवनिकाय का परिपूर्ण अध्ययन करने वाला नवदीक्षित) का स्मरण हो और संघ में कल्पाक के माननीय कल्पाक भी न हों, फिर भी कल्पाक का उपस्थापन (यावज्जीवन की दीक्षा) न करें तो वे (आचार्य या उपाध्याय) दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

यदि संघ में कल्पाक के माननीय (बड़ी उम्र के नवदीक्षित) कल्पाक (जिनका षड्जीवनिकाय अध्ययन समाप्त नहीं हुआ है) हों अतः कल्पाक का उपस्थापन न करें तो वे (आचार्य या उपाध्याय) दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त के पात्र नहीं है।

विशेषार्थ—किसी एक कल्पाक (नवदीक्षित) को "इत्वरिक" दीक्षा लिए चार पाँच दिन हो गए है, उसने "छहजीवनिकाय" आदि का अध्ययन कर लिया है और साधु समाचारी से परिचित भी हो गया है पर उक्त कल्पाक के माननीय पिता-भाई आदि जो उसके साथ ही दीक्षित हुए है, वे तब तक छह-जीवनिकाय आदि का अध्ययन परिपूर्ण नहीं कर पाए है, पाँच दश या पन्द्रह दिनों में अध्ययन पूर्ण कर लेंगे—ऐसी सम्भावना है, और माननीय व्यक्ति को ज्येष्ठ रखना है अतः उक्त कल्पाक एवं उसके माननीय व्यक्तियों को यदि छेदोपस्थापनाचारित्र में एक साथ उपस्थापित करें तो वे (आचार्य या उपाध्याय) दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त के पात्र नहीं हैं।

यदि उक्त कल्पाक के माननीय कल्पाक कोई संघ में नहीं है फिर भी आचार्य या उपाध्याय (छेदोपस्थापना चारित्र में उपस्थापन करने योग्य जानते हुए भी) उसे उपस्थापित (यावज्जीवन की दीक्षा) नहीं करते है तो—जितने दिन उपस्थापित नहीं करते हैं उतने दिनों की दीक्षा का छेद या परिहार प्राय श्चित्त उन्हें प्राप्त होता है।

सूत्र १६

आयरिय-उवज्झाए असरमाणे
परं चउरायाओ पंचरायाओ वा कप्पागं भिक्खुं नो उवट्ठावेइ,
कप्पाए अत्थि याइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए,
नत्थि से केइ छेए वा परिहारे वा।

णत्थि याइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए
से संतरा छेए वा परिहारे वा।

आचार्य या उपाध्याय को कल्पाक का स्मरण न रहे और उस कल्पाक का माननीय कल्पाक संघ में न हो। (ऐसी स्थिति में) यदि वे उस कल्पाक को चार-पाँच दिन के बाद भी छेदोस्थापना चारित्र में उपस्थापित नहीं करते है तो वे (आचार्य या उपाध्याय जितने दिन उसे उपस्थापित न करें) उतने दिन के दीक्षाछेद या परिहार प्रायश्चित के पात्र होते हैं।

यदि संघ में उस कल्पाक के माननीय कल्पाक हों तो वे दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त के पात्र नहीं है।

सूत्र १७

आयरिय-उवज्झाए सरमाणे वा असरमाणे वा
परं दसराय कप्पाओ कप्पागं भिक्खुं नो उवट्ठावेइ,
कप्पाए अत्थि याइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए
नत्थि से केइ छेए वा परिहारे वा।
नत्थि याइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए
संवच्छरं तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव–
गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए।

आचार्य या उपाध्याय को कल्पाक का स्मरण रहे या न रहे, यदि उस कल्पाक का कोई माननीय कल्पाक संघ में न हो तो दश दिन के बाद यदि उसे छेदोपस्थापना चारित्र में वे उपस्थापित न करें तो उन्हें उक्त कारण से एक वर्ष पर्यन्त आचार्य पद यावत् गणावच्छेदक पद देना नहीं कल्पता है।

यदि संघ मे उस कल्पाक के माननीय कल्पाक हों तो वे दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित के पात्र नहीं है।

गणान्तर-गमन-विधानम्

सूत्र १८

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म
अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा,
तं च केइ साहम्मिए पासित्ता वएज्जा—
'कं अज्जो! उवसंपज्जित्ताणं विहरसि?'
जे तत्थ सव्वराइणिए तं वएज्जा।
राइणिए तं वएज्जा
'अह भंते! कस्स कप्पाए?'

जे तत्थ सव्व-बहुस्सुए तं वएज्जा ।
जं वा से भगवं वक्खइ तस्स आणा-उववाय-वयण निद्दे से चिट्ठिस्सामि ।

अन्य गणगत भिक्षु को अपना परिचय देने की विधि

(विशिष्ट ज्ञान प्राप्ति के लिए या अन्य कोई विशेष कारण से) यदि कोई भिक्षु अपना गण छोड़कर अन्य गण में सम्मिलित होकर विचरे (उस समय) उसे उस गण में देखकर कोई स्वधर्मी भिक्षु पूछे कि—हे आर्य ! तुम किसकी उपसम्पदा (देखरेख) में विचर रहे हो ?

तब वह उस गण में जो दीक्षा में सबसे अधिक (बड़ा) हो—उसका नाम कहे ।

उस समय यदि उसी गण का कोई रत्नाधिक भिक्षु उसे पूछे कि—हे भदन्त ! किसके कल्प (निश्रा) में तुम विचर रहे हो ?

तब वह उस गण में जो सबसे अधिक बहुश्रुत हो—उसका नाम कहे ।

अथवा—हे भगवन् ! जिनकी आज्ञा में रहने के लिए आप कहें—"उनकी ही आज्ञा एवं सामिप्य में रहकर उनके ही वचनों के निर्देशानुसार मैं रहूँ ।" (ऐसा कहे)

विशेषार्थ—भाष्यकार ने दूसरी बार पूछने का अभिप्राय यह कहा है कि वह भिक्षु जिस आचार्य का नाम बतावे—वह यदि अगीतार्थ (सूत्र और अर्थ में अनिष्णात) है तो उससे उसके प्रति शंका उत्पन्न होगी कि—"इसका आचार ठीक है या नहीं ?" अतः वह पुनः पूछता है कि—"किसकी निश्रा में विचरते हो ?" तब संघ में जो सर्वाधिक श्रुतज्ञाता गीतार्थ साधु हो—उसका नाम लेकर कहना चाहिए कि—अमुक साधु की निश्रा में विचरता हूँ । इस प्रकार कहने से उसके मन में विचरने वाले साधु के प्रति किसी प्रकार की आचार सम्बन्धी आशंका नहीं रहेगी ।

अभिनिचरिका विधानम्

सूत्र १९

बहवे साहम्मिया इच्छेज्जा एगयओ अभिनिचारियं चारए
कप्पइ[1] नो णं थेरे अणापुच्छित्ता एगयओ अभिनिचारियं चारए ।
कप्पइ णं थेरे आपुच्छित्ता एगयओ अभिनिचारियं चारए ।
थेरा य से वियरेज्जा—एवं णं कप्पइ एगयओ अभिनिचारियं चारए ।

---

१ णो णं कप्पइ ।

थेरा य से नो वियरेज्जा-एवं णं नो कप्पइ एगयओ अभिनिचारियं चारए।
जे तत्थ थेरेहिं अविइण्णे एगयओ अभिनिचारियं चरंति
से सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

अभिनिचरिका (अभिन्नचर्या) विषयक विधान

अनेक साधर्मिक साधु एक साथ "अभिनिचरिका" करना चाहें तो—स्थविर साधुओं को पूछे बिना उन्हें एक साथ "अभिनिचरिका" करना नहीं कल्पता है। किन्तु स्थविर साधुओं को पूछ लेने पर उन्हें एक साथ "अभिनिचरिका" करना कल्पता है।

यदि स्थविर साधु आज्ञा दें तो उन्हें "अभिनिचरिका" करना कल्पता है।

यदि स्थविर साधु आज्ञा न दें तो उन्हें "अभिनिचरिका" करना नहीं कल्पता है।

यदि वे स्थविरों से (एक साथ) आज्ञा प्राप्त किये बिना "अभिनिचरिका" करें तो (जितने दिन आज्ञा के बिना "अभिनिचरिका" करें उतने दिन के दीक्षा) छेद या परिहार प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

विशेषार्थ—भाष्य और टीकाकार ने "अभिनिचरिका चर्या" का यह अर्थ किया है कि—"किसी समय किसी नगर में अनेक साधु एकत्रित हों और उन्हें नगर में (गोचरी के लिए बहुत देर तक एक साथ परिभ्रमण करने पर भी) पर्याप्त भक्त-पान न मिले, या रूक्ष आहार मिले अतः अनेक साध दुर्बल हो जावें या अस्वस्थ हो जावें तब वे साधु उदरपूर्ति के लिए गौचरी काल के पूर्व गौचरी करने जावें अथवा उस क्षेत्र को छोड़कर अन्य क्षेत्र में गौचरी करने जावें तो उस चर्या को "अभिनिचरिका चर्या"[1] कहा है।

---

१ 'स बहुश्रुतस्य गणः सूत्रार्थतदुभयनिमित्तं बहुभिः प्रातीच्छिकैराकीर्णः समाकुलः तथा तस्मिन् क्षेत्रे उत्सूरे भिक्षावेला चिरं च परिभ्रम्यते, लभ्यते च रूक्षं भैक्षं, ततः केचित् रूक्षेण दुर्बलीभूताः क्षपका वा दुर्बला अभवन्, ग्लानोत्थिता वा सीदन्ति। एवं तेन क्षेत्रेण त्याजितानां केषाञ्चित् चरिका योगो भवंति।....

'अभिनिचरिका अभिमुख्येन नियता चरिका सूत्रोपदेशेन बहिर्व्रजिकादिषु दुर्बलानामाप्यायननिमित्तं पूर्वाण्हे काले समुत्कृष्टं समुदान लब्धुं गमनं अभिनिचरिका तां चरितुं समाचरितुं कर्तुमित्यर्थः।

(व्यवहार भाष्य उ० ४ सू० १९, पृ० ६६अ)

सूत्र २०

चरियापविट्ठे भिक्खू जाव-चउराय पंचरायाओ थेरे पासेज्जा,
सच्चेव आलोयणा, सच्चेव पडिक्कमणा,
सच्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुन्नवणा चिट्ठइ अहालंदमवि ओग्गहे।

(आज्ञा के बिना) अभिनिचरिका चर्या में प्रविष्ट भिक्षु यदि (एक रात, दो रात) यावत् चार या पांच रात पर्यन्त स्थविरों (से) को देखें (मिलें) (अभिनिचरिका चर्या से निवृत्त होकर पुनः संघ में आवें) तो—उन भिक्षुओं को वही आलोचना, वही प्रतिक्रमण और वही उसके अवग्रह की पूर्वानुज्ञा है (जो कि अन्य गण से आये हुए साधु के लिए दी जाती है)। यथालन्द काल तक संघ से बाहर रहे साधु के पुनः संघ में आने पर भी वही आलोचना आदि हैं।

विशेषार्थ—"यथालन्द काल"=हाथ की गीली रेखाओं को सूखने में जितना समय लगता है उतना समय जघन्य "यथालन्द काल, है। पांच रात पर्यन्त का काल उत्कृष्ट "यथालन्द काल" है।

सूत्र २१

चरियापविट्ठे भिक्खू परं चउराय-पंचरायाओ
थेरे पासेज्जा,
पुणो आलोएज्जा
पुणो पडिक्कमेज्जा
पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।
भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चंपि ओग्गहे अणुन्नवेयव्वे सिया
कप्पइ से एवं वदित्तए—
'अणुजाणह भंते! मिओग्गहं अहालंदं धुवं नितियं निच्छइयं[1] वेउट्टियं।'
तओ पच्छा काय-संफासं।

आज्ञा के बिना अभिनिचरिका चर्या में प्रविष्ट भिक्षु यदि चार-पांच रात के बाद स्थविरों को देखे या स्थविरों से (मिले) तो उसे पुनः आलोचना पुनः प्रतिक्रमण और पुनः दीक्षाछेद या परिहार प्रायश्चित में उपस्थापन करें। (जो अन्य गण से आये हुए साधु के लिए विहित है)।

भिक्षुभाव (संयम की सुरक्षा) के लिए उसे दूसरी बार संघ में सम्मिलित होने की अनुमति आचार्य से लेनी चाहिए।

---

१ क्वचिदिदं नास्ति।

(वह आचार्य से प्रार्थना करे कि—(हे भदन्त ! मुझे मित-अवग्रह यथालन्द ध्रुव नित्य नैश्चयिक और व्युत्थित की अनुज्ञा दीजिए। (इस प्रकार कहकर वह) आचार्य के काय (चरण) का स्पर्श करे।

विशेषार्थ—मितावग्रह आदि के लिए जो भिक्षु आचार्य से अनुज्ञा चाहता है—उसका स्पष्टीकरण भाष्य और टीकाकार ने इस प्रकार किया है।

"दूसरी वार सम्मिलित होने वाला भिक्षु आचार्य से (इस प्रकार) प्रार्थना करे—हे भदन्त ! मुझे भी अपने संघ में मित (परिमित स्थान, अवस्थान गमन शयनादि के लिए स्थान दें), यथालन्द (संघ में रहते हुए जो जो कर्तव्य मेरे करने के योग्य है, उन्हें मैं यथासमय) करूँगा, ध्रुव (रूप से पालन) करूँगा, नियत (रूप से) करूँगा, नित्य (जो कार्य मुझे सौंपा जायगा, उसे जब तक अन्य सहायक को नहीं सौंपा जायगा तब तक) करता रहूँगा, निश्चय (से दृढ़ता पूर्वक श्रद्धा) के साथ करूँगा, तथा व्युत्थान (पुनः-पुनः आपके पास आ-आकर पूछकर) करूँगा।"

उस भिक्षु के इस प्रकार कहने पर आचार्य उसे संघ में रहने की स्वीकृति प्रदान करे। वाद में वह उनके चरण-युगल में मस्तक लगाकर वन्दना करे और गुरु के चरणों में आत्म-समर्पण करके संघ में यथाविधि रहे।

सूत्र २२

चरिया नियट्टे भिक्खू जाव चउराय-पंचरायाओ थेरे पासेज्जा,

सच्चेव आलोयणा,

सच्चेव पडिक्कमणा

सच्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुन्नवणा चिट्ठइ

अहालंदमवि ओग्गहे।

(स्थविरों की आज्ञा लिए विना यदि) कोई भिक्षु ("अभिनिचरिका चर्या के लिए अन्य ग्राम या अन्य गण में जाए और उसे चर्या से निवृत्त होने पर (भी) एक, दो यावत् चार, पाँच रात तक स्थविरों को देखे (से मिले) (इस अवधि से पहले न मिले) तो उसे वही आलोचना, वही प्रतिक्रमण और वही अवग्रह की पूर्वानुज्ञापना है (जो अन्य गण से आते हुए साधु के लिए विहित है)। 'यथालन्दकाल' तक संघ से वाहर रहने पर (भी) यही प्रायश्चित्त विहित है।

सूत्र २३

चरियानियट्टे भिक्खू परं चउराय-पंचरायाओ
थेरे पासेज्जा,
पुणो आलोएज्जा,
पुणो, पडिक्कमेज्जा,
पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।
भिक्खु भावस्स अट्ठाए दोच्चं पि ओग्गहे
अणुन्नवेयव्वे सिया—
कप्पइ से एवं वइत्तए—
'अणुजाणह भंते ! मिओग्गहं अहालंदं धुवं नितियं निच्छइयं वेउट्टियं।'
तओ पच्छा काय-संफासं।

यदि कोई भिक्षुचर्या से निवृत्त होने पर (भी) पांच रात के बाद स्थविरों से मिले तो उसे पुनः आलोचना पुनः प्रतिक्रमण और पुनः दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त में उपस्थापित करें। जो अन्य गण से आए हुए भिक्षु के लिए विहित है।

भिक्षुभाव (संयम की सुरक्षा) के लिए उसे दूसरी बार संघ में सम्मिलित होने की अनुमति आचार्य से लेनी चाहिए।

(वह आचार्य से प्रार्थना करे कि—) हे भदन्त ! मुझे मितावग्रह यथालन्द ध्रुव नित्य नैश्चयिक और व्युत्थित रूप से आज्ञा पालन करने की अनुमति दीजिए। इस प्रकार कहकर वह आचार्य के काय (चरणों) का स्पर्श करे।

साधर्मिकादीनां उपसम्पदा विधानम्

सूत्र २४

दो साहम्मिआ एगयओ विहरंति,
तं जहा—सेहे य, राइणिए य।
तत्थ सेहतराए पलिच्छन्ने, राइणिए अपलिच्छन्ने।
(तत्थ) सेहतराएणं राइणिए उवसंपज्जियव्वे,
भिक्खोववायं च दलयइ कप्पागं।

साथ विहार करनेवाले भिक्षुओं का विनय व्यवहार

दो साधर्मिक भिक्षु एक साथ विहार करते हैं। उनमें एक शैक्ष (अल्प-कालिक दीक्षा-पर्याय वाला) है और एक रत्नाधिक (चिरकालिक दीक्षा-पर्याय वाला) है।

जो शैक्ष है—उसके अनेक शिष्य हैं और जो रत्नाधिक है उसके अल्प-

संख्यक शिष्य हैं। फिर भी उस अनेक शिष्ययुक्त शैक्ष को रत्नाधिक की उप-सम्पदा (विनय वैयावृत्य) करनी चाहिए और कल्प (मर्यादा) के अनुसार भिक्षा (लाकर देना) उपपात (समीप बैठना) आदि भी करना चाहिए।

सूत्र २५

दो साहम्मिया एगयओ विहरंति,
तं जहा—सेहे य, राइणिए य।
तत्थ राइणिए पलिच्छन्ने, सेहतराए अपलिच्छन्ने।
इच्छा राइणिए सेहतरागं उवसंपज्जेज्जा
इच्छा नो उवसंपज्जेज्जा;
इच्छा भिक्खोववायं दलेज्जा[1] कप्पागं
इच्छा नो दल्लेज्जा कप्पागं[2]।

दो सार्धमिक भिक्षु एक साथ विहार करते हैं। उनमें एक शैक्ष है, और दूसरा रत्नाधिक है।

जो रत्नाधिक है उनके अनेक शिष्य हैं और जो शैक्ष हैं उसके अल्पसंख्यक शिष्य हैं। (ऐसी स्थिति में—) यदि रत्नाधिक की इच्छा हो तो शिष्य को अपने समीप रखे, इच्छा न हो तो न रखे) इच्छा हो तो कल्पाक (नवदीक्षित) को भिक्षा-विभाग या सामिप्य दे, इच्छा न हो तो न दे।

सूत्र २६

दो भिक्खुणो एगयओ विहरंति,
नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।
कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

दो भिक्षु एक साथ विचरते हों तो उन्हें परस्पर (एक दूसरे की उप-सम्पदा (विनय-वैयावृत्य किये) विना एक साथ विचरना नहीं कल्पता है।

उनमें जो रत्नाधिक (चिरकाल दीक्षित) हो—उनकी उपसम्पदा (विनय वैयावृत्य) करते हुए ही अल्पकाल के दीक्षित को साथ रहकर विचरना कल्पता है।

सूत्र २७

दो गणावच्छेइया एगयओ विहरंति,
नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।
कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

---

१ दलयइ। २ क्वचिदिदं पदं नास्ति।

दो गणावच्छेदक एक साथ विचरते हों तो उन्हें परस्पर (एक-दूसरे की उपसम्पदा (विनय-वैयावृत्य) किये विना एक साथ विचरना नहीं कल्पता है।

उनमें जो रत्नाधिक हो—उनकी उपसम्पदा (विनय-वैयावृत्य) करते हुए ही अल्पकाल के दीक्षित को साथ रहकर विचरना कल्पता है।

सूत्र २८

दो आयरिय-उवज्झाया एगयओ विहरंति,
नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।
कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

दो आचार्य या दो उपाध्याय एक साथ विचरते हों तो उन्हें परस्पर (एक दूसरे की) उपसम्पदा (विनय-वैयावृत्य) किये विना एक साथ विचरना नहीं कल्पता है।

उनमें जो रत्नाधिक हो—उनकी उपसम्पदा (विनय-वैयावृत्य) करते हुए ही अल्पकाल के दीक्षित के साथ रहकर विचरना कल्पता है।

सूत्र २९

वहवे भिक्खुणो एगयओ विहरंति,
नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।
कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

बहुत से भिक्षु एक साथ विचरते हों तो उन्हें परस्पर (एक-दूसरे की) उपसम्पदा (विनय-वैयावृत्य) किये विना एक साथ विचरना नहीं कल्पता है।

उनमें जो रत्नाधिक हों—उनकी उपसम्पदा (विनय-वैयावृत्य) करते हुए ही अल्पकाल के दीक्षितों के साथ रहकर विचरना कल्पता है।

सूत्र ३०

वहवे गणावच्छेइया एगयओ विहरंति
नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।
कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

बहुत से गणावच्छेदक एक साथ विचरते हों तो उन्हें परस्पर (एक-दूसरे की) उपसम्पदा (विनय-वैयावृत्य) किये विना एक साथ विचरना नहीं कल्पता है।

उनमें जो रत्नाधिक हों—उनकी उपसम्पदा (विनय-वैयावृत्य) करते हुए ही अल्पकाल के दीक्षितों के साथ रहकर विचरना कल्पता है।

सूत्र ३१

वहवे आयरिय-उवज्झाया एगयओ विहरंति
नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।
कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

बहुत से आचार्य या उपाध्याय एक साथ विचरते हों तो उन्हें परस्पर (एक दूसरे की) उपसम्पदा (विनय-वैयावृत्य) किये विना एक साथ विचरना नहीं कल्पता है।

उनमें जो रत्नाधिक हों—उनकी उपसम्पदा (विनय-वैयावृत्य) करते हुए ही अल्पकाल के दीक्षितों के साथ रहकर विचरना कल्पता है।

सूत्र ३२

वहवे भिक्खुणो,
वहवे गणावच्छेइया,
वहवे आयरिय-उवज्झाया
एगयओ विहरन्ति
नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।[1]
कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।[2]

बहुत से भिक्षु, बहुत से गणावच्छेदक और बहुत से आचार्य या उपाध्याय एक साथ विचरते हों तो—उन्हें परस्पर (एक दूसरे की) उपसम्पदा (विनय-वैयावृत्य) किये बिना एक साथ विचरना नहीं कल्पता है।

उनमें जो रत्नाधिक हों—उनकी उपसम्पदा (विनय-वैयावृत्य) करते हुए ही अल्पकाल के दीक्षितों के साथ रहकर विचरना कल्पता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

चउत्थो उद्देसओ समत्तो
॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१ 'हेमंतगिम्हासु' इत्यधिकम् क्वचित्।
२ वासावासं वत्थए कप्पइ पवित्तिए।

पंचमो उद्देसओ

पंचम उद्देशक

प्रवर्तिन्यादीनां वर्षावासे विहारे च साध्वी संख्या विधानम्

सूत्र १

नो कप्पइ पवत्तिणीए अप्प-बिइयाए हेमंत-गिम्हासु चारए।

प्रवर्तिनी और गणावच्छेदिनी के विहार व वर्षावास में साथ रहने वाली साध्वियों की संख्या का विधान

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में प्रवर्तिनी साध्वी को एक (अन्य) साध्वी साथ लेकर विहार करना नहीं कल्पता है।

सूत्र २

कप्पइ पवत्तिणीए अप्प-तइयाए हेमंत-गिम्हासु चारए।

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में प्रवर्तिनी साध्वी को दो साध्वी साथ लेकर विहार करना कल्पता है।

सूत्र ३

नो कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्प-तइयाए हेमंत-गिम्हासु चारए।

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में गणावच्छेदिनी को दो साध्वी साथ लेकर विहार करना नहीं कल्पता है।

सूत्र ४

कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्प-चउत्थाए हेमंत-गिम्हासु चारए।

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में गणावच्छेदिनी को तीन साध्वी साथ लेकर विहार करना कल्पता है।

सूत्र ५

नो कप्पइ पवत्तिणीए अप्प-तइयाए वासावासं वत्थए।

वर्षावास में प्रवर्तिनी साध्वी को दो साध्वियों के साथ रहना नहीं कल्पता है।

सूत्र ६

कप्पइ पवत्तिणीए अप्प-चउत्थाए वासावासं वत्थए ।

वर्षावास में प्रवर्तिनी साध्वी को तीन साध्वियों के साथ रहना कल्पता है ।

सूत्र ७

नो कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्प-चउत्थाए वासावासं वत्थए ।

वर्षावास में गणावच्छेदिनी साध्वी को तीन साध्वियों के साथ रहना नहीं कल्पता है ।

सूत्र ८

कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्प-पंचमाए वासावासं वत्थए ।

वर्षावास मे गणावच्छेदिनी साध्वी को चार साध्वियों के साथ रहना कल्पता है ।

सूत्र ९

से गामंसि वा नगरंसि वा
निगमंसि वा रायहाणिंसि वा जाव[1]—सन्निवेसंसि वा
बहूणं पवत्तिणीणं अप्पतइयाणं
बहूणं गणावच्छेइणीणं अप्पचउत्थाणं
कप्पइ हेमंत-गिम्हासु चारए अन्नमन्नं नीसाए ।

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में अनेक प्रवर्तिनी साध्वियों को ग्राम यावत् सन्निवेश में दो-दो अन्य साध्वियों के साथ और अनेक गणावच्छेदिनी साध्वियों को तीन-तीन अन्य साध्वियों के साथ अन्योऽन्य (परस्पर) निश्रा में रहकर विहार करना कल्पता है ।

सूत्र १०

से गामंसि वा नगरंसि वा
निगमंसि वा रायहाणिंसि वा जाव[2] सन्निवेसंसि वा
बहूणं पवत्तिणीणं अप्पचउत्थाणं,
बहूणं गणावच्छेइणीणं अप्प-पंचमाणं
कप्पइ वासावासं वत्थए अन्नमन्नं नीसाए ।

वर्षावास में अनेक प्रवर्तिनी साध्वियों को ग्राम यावत् सन्निवेश में तीन-तीन

१-२ चतुर्थोद्देशकस्य नवमसूत्रानुसारेण ।

अन्य साध्वियों के साथ और अनेक गणावच्छेदिनी साध्वियों को चार-चार अन्य साध्वियों के साथ अन्योऽन्य (परस्पर) निश्रा (अधीनता) में रहना कल्पता है।

प्रवर्त्तिन्यादीनां मरणे गणवर्त्तिनीनां करणीयता विधानम्

सूत्र ११

गामाणुगामं दूइज्जमाणी णिग्गंथी य
जं पुरओ काउं विहरेज्जा,
सा य आहच्च[1] वीसंभेज्जा
अत्थि य इत्थ काइ अन्ना उवसंपज्जणारिहा सा उवसंपज्जियव्वा।
नत्थि य इत्थ काइ अन्ना उवसंपज्जणारिहा
तीसे य अप्पणो कप्पाए असमत्थाए
एयं से कप्पइ एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसं
अन्नाओ साहम्मिणीओ विहरंति
तं णं तं णं दिसं उवलित्तए।
नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए।
कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए।
तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परा वएज्जा—
'वसाहि अज्जे! एगरायं वा दुरायं वा'
एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए।
नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।
जा तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ
से सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

दिवंगत प्रवर्तिनी आदि के स्थान पर योग्य साध्वी को प्रवर्तिनी आदि के पद पर उपस्थिपित करने का विधान

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में ग्रामानुग्राम विहार करती हुई साध्वियां जिस प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी को पुरोगामिनी करके विहार कर रही हों तब उनके (अकस्मात्) दिवंगत होने पर उस समुदाय में जो साध्वी (प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी) पद के योग्य हों तो उसे प्रवर्तिनी आदि पद पर स्थापित करना चाहिए।

यदि प्रवर्तिनी पद योग्य कोई साध्वी न हो और स्वयं ने तथा साथ वाली

[1] वीसुंभेज्जा।

साध्वियों ने भी आचारकल्प (निशीथ आदि) अध्ययन समाप्त न किया हो तो उन्हें मार्ग में एक रात्रि से अधिक न रहने की प्रतिज्ञा लेकर जिस दिशा में अन्य सार्धमिनी साध्वियाँ विचरती हों उस दिशा में गमन करना कल्पता है।

विहार (मार्ग) में उन्हें एक रात्रि से अधिक वसना (रहना) नहीं कल्पता है।

यदि रोगादि कारण हो तो एक रात्रि से अधिक वसना कल्पता है।

रोगादि कारणों के समाप्त होने पर यदि कोई साध्वी कहे कि—"हे आर्ये! एक या दो रात और वसो" तो उन्हें एक या दो रात और वसना कल्पता है। किन्तु एक या दो रात से अधिक रहें तो वे (जितने रात रहें उतने रात की) दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

सूत्र १२

वासावासं पज्जोसविया निग्गंथी य
जं पुरओ काउं विहरइ,
सा आहच्च वीसंभेज्जा,
अत्थि य इत्थ काइ अन्ना उपसंपज्जणारिहा सा उपसंपज्जियव्वा,
नत्थि य इत्थ काइ अन्ना उवसंपज्जणारिहा
तीसे य अप्पणो कप्पाए असमत्थे,
एवं से कप्पइ एगराइयाए पडिमाए
जण्णं जण्णं दिसं अन्नाओ साहम्मिणीओ विहरंति
तं णं तं णं दिसं उवलित्तए।
नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए।
कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए।
तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परा वएज्जा—
'वसाहि अज्जे! एगरायं वा दुरायं वा',
एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए।
नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।
जातत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ
से संतरा छेए वा परिहारे वा।

वर्षावास में रही हुई साध्वियाँ जिस प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी को पुरोगामिनी (अर्थात्—जिसकी अनुगामिनी बनकर रह रही हो) करके रह रही हों उनके (अकस्मात्) दिवंगत होने पर उस समुदाय में जो साध्वी प्रवर्तिनी

आदि पद के योग्य हों तो उसे प्रवर्तिनी आदि पद पर उपस्थापित करना चाहिए।

यदि प्रवर्तिनी आदि पद योग्य कोई साध्वी न हो और स्वयं ने तथा साथ वाली साध्वियों ने भी आचारकल्प (निशीथ आदि) का अध्ययन समाप्त न किया हो तो उसे मार्ग में एक रात्रि से अधिक न रहने की प्रतिज्ञा लेकर जिस दिशा में अन्य सार्धमिनी साध्वियां विचरती हों उस दिशा में गमन करना कल्पता है।

विहार (मार्ग) में उन्हें एक रात्रि से अधिक वसना नहीं कल्पता है।

यदि रोगादि कारण हो तो एक रात्रि से अधिक वसना कल्पता है।

रोगादि कारणों के समाप्त होने पर यदि कोई (अन्य साध्वी) कहे कि "हे आर्ये! एक या दो रात और वसो" तो उन्हें एक या दो रात और वसना कल्पता है। किन्तु एक या दो रात से अधिक रहें तो वे (जितने रात रहें उतने रात की) दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

विशेषार्थ—उद्देशक चार सूत्रांक ११ के समान इस सूत्र में भी "वसइ" शब्द होने से एक ही साध्वी के जाने की सूचना मिलती है किन्तु बृहत्कल्प के उद्देशक ५, सूत्रांक १५ में उक्त—"नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए होत्तए" इस पाठ के अनुसार अकेली साध्वी को विचरना नहीं कल्पता है। अतः अपने समुदाय के लिए प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी के अन्वेषणार्थ कम से कम दो साध्वियों को जाना चाहिए और मार्ग में एक-एक रात से अधिक कहीं नहीं ठहरना चाहिए।

प्रवर्त्तिन्या अनुज्ञातायै तत्पददान-विधानम्

सूत्र १३

पवत्तिणी य गिलायमाणी अन्नयरं वएज्जा—
'मए णं अज्जे! कालगयाए समाणीए इयं समुक्कसियव्वा।'
सा य समुक्कसिणारिहा समुक्कसियव्वा।
सा य नो समुक्कसिणारिहा नो समुक्कसियव्वा।
अत्थि य इत्थ अन्ना काइ समुक्कसिणारिहा सा समुक्कसियव्वा।
नत्थि य इत्थ अन्ना काइ समुक्कसिणारिहा सा चेव समुक्कसियव्वा।
ताए च णं समुक्किट्ठाए परा वएज्जा—
'दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जे! निक्खिवाहि',
ताए णं निक्खिवमाणाए नत्थि केइ छेए या परिहारे या।

जाओ साहम्मिणीओ अहाकप्पं नो[1] उट्ठाए विहरंति
सव्वासिं तासिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा ?

रुग्णा प्रवर्तिनी आदि के आदेशानुसार योग्य साध्वी को प्रवर्तिनी आदि पद पर उपस्थापित करने का विधान

रुग्णा प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी अपना मरण सन्निकट जानकर समुदाय की किसी (प्रमुख) साध्वी से कहे कि—हे आर्ये ! मेरे कालगत होने पर अमुक साध्वी को मेरे पद पर उपस्थापित करना।

(उसके कालगत होने पर) यदि वह (प्रवर्तिनी आदि से निर्दिष्ट) उस पद पर उपस्थापन करने योग्य हो तो उसे उस पद पर उपस्थापित करना चाहिए।

यदि उस पद पर उपस्थापन करने योग्य न हो तो उसे उपस्थापित नहीं करना चाहिए।

यदि समुदाय में अन्य कोई साध्वी उस पद के योग्य हो तो उसे उपस्थापित करना चाहिए।

यदि समुदाय में अन्य कोई भी साध्वी उस पद के योग्य न हो तो कालगत प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी जिसके लिए कहके गई हो—उसी को उस पद पर उपस्थापित करना चाहिए।

उस (प्रवर्तिनी आदि निर्दिष्ट) को उस पद पर उपस्थापित करने के बाद (किसी प्रकार का विवाद उपस्थित होने पर) गीतार्थ साध्वी कहे कि—"हे आर्ये ! तुम इस पद के अयोग्य हो अतः इस पद को छोड़ दो" (ऐसा कहने पर) यदि वह उस पद को छोड़ दे तो दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त की पात्र नहीं होती है।

(यदि न छोड़े तो—जितने दिन वह उस पद पर रहे उतने दिन के दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त की पात्र होती है।)

उस (प्रवर्तिनी आदि पद पर स्थित) साध्वी के साथ जो स्वधर्मिनी साध्वियां कल्प के अनुसार (वन्दनादि) व्यवहार न करे और न उसे प्रवर्तिनी आदि पद छोड़ने के लिए कहें तो वे सभी स्वधर्मिनी साध्वियां उक्त कारण से (जितने दिन पूर्वोक्त स्थिति में रहे उतने दिन की) दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

---

१ नो उवट्ठायंति।

सूत्र १४

पवत्तिणी य ओहायमाणी अन्नयरं वएज्जा—
'मए णं अज्जे ! ओहावियाए समाणीए इयं समुक्कसियव्वा ।'
सा य समुक्कसिणारिहा समुक्कसियव्वा,
सा य नो समुक्कसिणारिहा नो समुक्कसियव्वा ।
अत्थि य इत्थ अन्ना काइ समुक्कसणारिहा सा समुक्कसियव्वा
नत्थि य इत्थ अन्ना काए समुक्कासणारिहा सा चेव समुक्कसियव्वा ।
ताए च णं समुक्किट्ठाए परा वएज्जा—
'दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जे ! निक्खिवाहि ।'
ताए णं निक्खिवमाणाए नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा ।
जाओ साहम्मिणीओ अहाकप्पं नो उट्ठाए विहरंति
सव्वासिं तासिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा ।

द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग का परित्याग कर जाने वाली प्रवर्तिनी आदि के आदेशानुसार योग्य साध्वी को प्रवर्तिनी आदि पद पर उपस्थापित करने का विधान

तीव्र मोहोदय या तीव्र अशातावेदनीय के उदय से द्रव्यलिंग और भाव-लिंग का परित्याग कर जाने वाली प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी समुदाय की किसी प्रमुख साध्वी से कहे कि हे आर्ये ! मेरे चले जाने पर अमुक साध्वी को मेरे पद पर स्थापित करना ।

(उसके चले जाने पर) यदि वह उस पद पर उपस्थापन करने योग्य हो तो उसे उस पद पर उपस्थापित करना चाहिए ।

यदि उस पद पर उपस्थापित करने योग्य न हो तो उसे उपस्थापित नहीं करनी चाहिए ।

यदि समुदाय में अन्य कोई साध्वी उस पद के योग्य हो तो उसे उपस्थापित करना चाहिए ।

यदि समुदाय में अन्य कोई भी साध्वी उस पद के योग्य न हो तो प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी जिसके लिए कहके गई हो—उसी को उस पद पर उपस्थापित करना चाहिए ।

उस (प्रवर्तिनी आदि से निर्दिष्ट) को उस पद पर स्थापित करने के बाद (किसी प्रकार का विवाद उपस्थित होने पर) गीतार्थ साध्वी कहे कि—"हे आर्ये ! तुम इस पद के अयोग्य हो—अतः इस पद को छोड़ दो' (ऐसा कहने

पर) यदि वह उस पद को छोड़ दे तो दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त की पात्र नहीं होती है।

(यदि न छोड़े तो—जितने दिन वह उस पद पर रहे उतने दिन के दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त की पात्र होती है।)

उस (प्रवर्तिनी आदि पद पर स्थित) साध्वी के साथ जो स्वधर्मिनी साध्वियाँ कल्प के अनुसार (वन्दनादि) व्यवहार न करें और न उसे प्रवर्तिनी आदि पद छोड़ने के लिए कहें तो वे सभी स्वधर्मिनी साध्वियाँ उक्त कारण से (जितने दिन पूर्वोक्त स्थिति में रहे उतने दिन की) दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त की पात्र होती हैं।

आचारप्रकल्पे विस्मृते पददानादा-विधानम

सूत्र १५

निग्गंथस्स णं नव डहर-तरुणस्स[1]
आयारपकप्पे[2] नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया
से य पुच्छियव्वे—
'केण ते[3] कारणेण अज्जो ! आयारपकप्पे नामं-
अज्झयणे परिब्भट्ठे ? किं आबाहेण उदाहु पमाएणं ?
से य वएज्जा—
'नो आबाहेणं, पमाएणं;'
जावज्जीवं तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ
आयरियत्तं वा जाव—गणावच्छेइयत्तं
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।
से य वएज्जा—
'आबाहेणं, नो पमाएण;'
से य 'संठवेस्सामीति' संठवेज्जा
एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।
से य 'संठवेस्सामि' इति नो संठवेज्जा,
एवं से नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

---

१ तरुणगस्स। २ आयारकप्पे।
३ ते अज्जो ! कारणेण।

आचार्य-यावत् गणावच्छेदक पद के योग्य और अयोग्य भिक्षु

नव, डहर और तरुण निर्ग्रंथ यदि आचारकल्प (निशीथ आदि) का अध्ययन विस्मृत हो जाए तो उसे पूछना चाहिए कि—"हे आर्य! तुम किस कारण से आचारकल्प अध्ययन को विस्मृत हुए हो—आबाधा (व्यथा-पीड़ा) में या प्रमाद से ?

यदि वह कहे कि—"आबाधा से नहीं अपितु प्रमाद से विस्मृत हुआ हूं" तो उसे उक्त कारण से आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

यदि वह कहे कि—"आबाधा से विस्मृत हुआ हूं, प्रमाद से नहीं। अब मैं आचारकल्प को पुनः कण्ठस्थ कर लूंगा" ऐसा कहकर कण्ठस्थ कर ले तो—उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

यदि वह आचारकल्प को पुनः कण्ठस्थ कर लेने का कहकर भी कण्ठस्थ न करे तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

सूत्र १६

निग्गंथीए नव-डहर-तरुणाए
आयार-पकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया,
सा य पुच्छियव्वा—
'केण भे कारणेणं अज्जे! आयार-पकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे ?
किं आबाहेणं उदाहु पमाएणं ?'
सा य वएज्जा—
'नो आबाहेण, पमाएणं,'
जावज्जीवं तीसे तप्पत्तियं नो कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइणित्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।
सा य वएज्जा—
'आबाहेणं, नो पमाएणं,'
सा य 'संठवेस्सामि' इति संठवेज्जा
एवं से कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइणित्तं वा—
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।
सा य 'संठवेस्सामि' इति नो संठवेज्जा,
एवं से नो कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइणित्तं वा—
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद के योग्य और अयोग्य साध्वी

नव, डहर और तरुण निर्ग्रन्थी यदि आचारकल्प अध्ययन विस्मृत हो जाए तो—उसे पूछना चाहिए कि—"हे आर्ये ! तू किस कारण से आचारकल्प अध्ययन विस्मृत हुई है—आबाधा से या प्रमाद से ?"

यदि वह कहे कि—"आबाधा से नहीं अपितु प्रमाद से विस्मृत हुई हूँ"—तो उसे उक्त कारण से प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

यदि वह कहे कि—"आबाधा से विस्मृत हुई हूँ, प्रमाद से नहीं अब मैं पुनः आचारकल्प को कण्ठस्थ कर लूँगी"—ऐसा कहकर कण्ठस्थ करले तो उसे प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद देना या धारण करना कल्पता है।

यदि वह आचारकल्प को पुनः कण्ठस्थ कर लेने का कहकर भी कण्ठस्थ न करे तो उसे प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

स्थविराणामाचारप्रकल्पे विस्मृते पुनः स्मारणविधानम्

सूत्र १७

थेराणं थेरभूमिपत्ताणं
आयार-पकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया,
कप्पइ तेसिं संठवेत्ताणं वा असंठवत्ताणं वा
आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद योग्य स्थविर

स्थविरत्व प्राप्त स्थविर यदि आचारकल्प अध्ययन विस्मृत हो जाए और वह पुनः कण्ठस्थ करे या न करे तो भी उन्हें आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

सूत्र १८

थेराणं थेरभूमिपत्ताणं
आयार-पकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया,
कप्पइ तेसिं सन्निसण्णाण वा संतुयट्टाण वा उत्ताणयाण वा पासिल्लयाण वा
आयारपकप्पं नामं अज्झयणं
दोच्चंपि तच्चंपि पडिपुच्छित्तए वा पडिसारेत्तए वा।

स्थविरों को भी यथाशक्ति आचारकल्प अध्ययन का स्मरण करना व करवाना आवश्यक है

स्थविरत्वप्राप्त स्थविर यदि आचारकल्प अध्ययन विस्मृत हो जाए तो उन्हें (यथाशक्ति) बैठे हुए, शयन किये हुए, अर्धशयन किये हुए या पार्श्व-भाग से शयन किये हुए को भी पुन: आचारकल्प अध्ययन का दो-तीन बार प्रतीच्छन या प्रतिसारण करना कल्पता है।

विशेषार्थ—अल्पकाल का दीक्षित साधु स्थविर को आचारकल्प अध्ययन का स्मरण कराएँ—इसकी "प्रतिसारण" संज्ञा है। और स्थविर द्वारा स्मरण करने की "प्रतिच्छन" संज्ञा है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थीनां परस्परमालोचनाविधानम्

सूत्र १९

जे निग्गंथा य निग्गंथीओ य संभोइया सिया
नो णं कप्पइ तेसिं अन्नमन्नस्स अंतिए आलोएत्तए।
अत्थि य इत्थ णं केइ आलोयणारिहे
कप्पइ णं तस्स अंतिए आलोइत्तए;
नत्थि य इत्थ णं केइ आलोयणारिहे
एवं णं कप्पइ अन्नमन्नस्स अंतिए आलोएत्तए।

आलोचना सुनने योग्य के समीप आलोचना करने का विधान

साम्भोगिक[1] निर्ग्रन्थ साधु और निर्ग्रन्थिनी साध्वियों को परस्पर (निर्ग्रन्थ को निर्ग्रन्थी के समीप और निर्ग्रन्थी को निर्गन्थ के समीप) आलोचना करना नहीं कल्पता है।

यदि समुदाय में आलोचना सुनने योग्य[2] (और प्रायश्चित्तविज्ञ-निर्ग्रन्थ समुदाय में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी समुदाय में निर्ग्रन्थी) हो तो उनके समीप आलोचना करना कल्पता है।

यदि समुदाय में आलोचना सुनने योग्य कोई न हो तो आलोचना करना नहीं कल्पता है।

---

१ बारह प्रकार के सम्भोग—सम० १२।

२ दश स्थान (गुण) सम्पन्न साधु आलोचना सुनने योग्य होता है।
—ठा० अ० १० सू० ७३३।

विशेषार्थ—जिन साधु-साध्वियों मे आहार-पानी तथा वस्त्र-पात्र आदि का परस्पर आदान-प्रदान होता है—वे "साम्भोगिक" कहे जाते हैं।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रथीनां स्वपक्ष-विपक्षे वैयावृत्य-विधानम्

सूत्र २०

जे निग्गंथा य निग्गंथीओ य संभोइया सिया,
नो णं कप्पइ अन्नमन्नेणं वेयावच्चं कारवेत्तए।
अत्थि य इत्थ णं केइ वेयावच्चकरे कप्पइ णं तेणं वेयावच्चं कारवत्तए;
नत्थि य इत्थ णं केइ वेयावच्चकरे, एवं णं कप्पइ अन्नमन्नेणं वेयावच्चं कारवेत्तए।

वैयावृत्य-विधान

साम्भोगिक निर्ग्रन्थ साधु और निर्ग्रन्थिनी साध्वियों को परस्पर (निर्ग्रन्थ को निर्ग्रन्थी की और निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ की) वैयावृत्य करना नहीं कल्पता है।

यदि समुदाय में वैयावृत्य करने वाला कोई हो तो उससे वैयावृत्य कराना कल्पता है।

यदि समुदाय में वैयावृत्य करने वाला कोई न हो तो वैयावृत्य कराना नहीं कल्पता है।

सर्पदंश-चिकित्साविधानम्

सूत्र २१

निग्गंथं च णं राओ वा वियाले वा दीहपट्ठो लूसेज्जा,
इत्थी वा पुरिसस्स ओमावेज्जा
पुरिसो वा इत्थीए ओमावेज्जा
एवं से कप्पइ, एवं से चिट्ठइ परिहारं च से न पाउणइ—
एस कप्पे थेरकप्पियाणं।
एवं से नो कप्पइ, एवं से नो चिट्ठइ, परिहारं च नो पाउणइ
एस कप्पे जिण-कप्पियाणं।

सर्पदंश चिकित्सा

यदि किसी निर्ग्रन्थ (या निर्ग्रन्थी) को रात्रि या विकाल (सन्ध्या) में सर्प डस ले तो निर्ग्रन्थी निर्ग्रन्थ से और निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी से उपचार करावे।

इस प्रकार उपचार कराना कल्पता है।

इस प्रकार उपचार कराने पर भी साधुत्व—(श्रमणत्व) स्थिर रहता है।

इस प्रकार उपचार कराने पर भी वे परिहार प्रायश्चित्त के पात्र नहीं होते हैं।

यह स्थविरकल्प वालों का कल्प है।

जिनकल्प वालों को इस प्रकार उपचार कराना नहीं कल्पता है।

यदि वे इस प्रकार (पूर्वोक्त) उपचार करावें तो उनका साधुत्व स्थिर नहीं रहता है।

जिनकल्प वाले इस प्रकार (पूर्ववत) उपचार नहीं कराते हैं अत: वे परिहार प्रायश्चित्त के पात्र भी नहीं होते हैं।

यह कल्प जिनकल्प वालों का है। ऐसा मैं कहता हूं।

विशेषार्थ—यह सूत्र पूर्व सूत्र का अपवाद सूत्र है।

यदि किसी जिनकल्पी श्रमण-निर्ग्रन्थ को सर्प डस ले तो वे सर्प-दंस की चिकित्सा नहीं करवाते हैं क्योंकि उनका मनोबल इतना सन्तुलित होता है कि वे तीव्रतम वेदना होने पर भी असमाधि भाव को प्राप्त नहीं होते हैं किन्तु स्थविरकल्पी श्रमण निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी को सर्प डसे तो वे वेदना से असमाधि भाव को प्राप्त हो जाते हैं अत: उनकी चिकित्सा किसप्रकार होनी चाहिए ? इसका समाधान इस सूत्र द्वारा किया गया है।

निर्ग्रन्थ को सर्प डसे तो उसकी चिकित्सा निर्ग्रन्थ करे और निर्ग्रन्थी को सर्प डसे तो उसकी चिकित्सा निर्ग्रन्थी करे—यह सामान्य विधान है।

जिस समय निर्ग्रन्थ को सर्प डसे उस समय वहां पर सर्प चिकित्सा का ज्ञाता अन्य निर्ग्रन्थ न हो और सर्प दंस चिकित्सा की ज्ञाता निर्ग्रन्थी हो तो वह निर्ग्रन्थ के सर्प-दंश की चिकित्सा करे। इसी प्रकार जिस समय निर्ग्रन्थी को सर्प डसे उस समय अन्य निर्ग्रन्थी सर्पदंस चिकित्सा की ज्ञाता वहां पर न हो और निर्ग्रन्थ सर्प दंस चिकित्सा का ज्ञाता हो तो वह निर्ग्रन्थी के सर्पदंस की चिकित्सा करे।—यह अपवाद विधान केवल सर्पदंस चिकित्सा के सम्बन्ध में है।

भाष्यकार ने चिकित्सकों का क्रम इस प्रकार निर्धारित किया है।

आचार्य को सर्प-दंस की चिकित्सा का ज्ञान होना ही चाहिए और सर्प-दंस के सर्वप्रथम चिकित्सक वे हों। उनके अभाव में जो निर्ग्रन्थ सर्प-चिकित्सा का

ज्ञाता हो वह चिकित्सा करे। यदि सर्प-चिकित्सा का ज्ञाता कोई निर्ग्रन्थ न हो किन्तु निर्ग्रन्थी हो तो वह चिकित्सा करे।

यदि निर्ग्रन्थी भी सर्प-चिकित्सा की ज्ञाता न हो तो स्वपक्ष के (अर्हद्-दर्शनानुयायी) वैद्य से चिकित्सा करावे। अथवा सर्प-दंसित निर्ग्रन्थ के निकट सम्बन्धियों से चिकित्सा करावें।

यदि स्वपक्ष का वैद्य भी न हो और निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी के निकट संबंधी भी सर्प-चिकित्सा के ज्ञाता न हों, अन्यतीर्थी वैद्य से या किसी जांगुलिक से चिकित्सा करवावें।

इसी क्रम से निर्ग्रन्थी के सर्प-दंस की चिकित्सा भी होनी चाहिए।

सर्वप्रथम प्रवर्तिनी से,
उसके अभाव में निर्ग्रन्थी से,
निर्ग्रन्थी के अभाव में निर्ग्रन्थ से,
निर्ग्रन्थ के अभाव में स्वपक्ष के वैद्य से,
अथवा स्वजन सम्बन्धी से,
उनके अभाव में अन्यतीर्थी वैद्य से चिकित्सा करवानी चाहिए।

विपरीत क्रम से चिकित्सा करवाने पर गण के प्रमुख आचार्यादि प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

भाष्यकार ने आठ प्रकार की सर्प-चिकित्साओं का वर्णन किया है।

१. दूत विद्या—किसी व्यक्ति को सर्प डसे और उसकी चिकित्सा के लिए जो व्यक्ति चिकित्सक को बुलाने के लिए आवे—चिकित्सक उसे पूछे कि—सर्प-दंस किस अंग पर हुआ है? आगन्तुक जिस अंग का नाम बतावे—चिकित्सक उसी अंग को अभिमंत्रित कर विष का अपमार्जन करे।

२. आदर्श विद्या—जिस व्यक्ति को सर्प डसे चिकित्सक उसके दंशित स्थान का प्रतिबिम्ब आदर्श में देखे और वह दंशित स्थान के प्रतिबिम्ब को अभिमंत्रित कर विष का अपमार्जन करे।

३, वस्त्र विद्या—अभिमंत्रित वस्त्र से दंशित स्थान के विष का अपमार्जन करे।

४. आन्तःपुरिकी विद्या—अन्तःपुर में राजरानी आदि में से जिनको सर्प ने डसा हो उनके नाम की तथा जिस अंग पर डसा हो उस अंग की चिकित्सक जानकारी करे बाद में दंसित व्यक्ति का नाम ले और दंसित अंग के अनुसार अपने अंग को अभिमंत्रित कर विष का अपमार्जन करे।

५. दर्भ विद्या—सर्प दंशित अंग को दर्भ से अभिमंत्रित कर विष का अपमार्जन करे।

६. व्यंजन विद्या—सर्प दंशित अंग को व्यजन (पंखे) से अभिमंत्रित कर विष का अपमार्जन करे।

७. तालवृन्त विद्या—सर्प दंशित अंग को ताड़पत्र से अभिमंत्रित कर विष का अपमार्जन करे।

८. चापेटी विद्या—सर्पदंस की चिकित्सा के लिए जो व्यक्ति चिकित्सक को बुलाये तब चिकित्सक उसी आगन्तुक व्यक्ति के एक चपेटा मार कर दंशित व्यक्ति के विष का अपमार्जन करे।

भाष्यकार ने सर्पदंस की चिकित्सा के लिए मंत्र विद्या का ही वर्णन किया है जबकि नागदमनी आदि सर्प-चिकित्सा की अमोघ औषधियाँ चिरकाल से प्रसिद्ध रही है।

पंचमो उद्देसओ समत्तो

॥पंचम उद्देशक समाप्त॥

छट्ठो उद्देसओ

षष्ठ उद्देशक

ज्ञातिगृह-गमन विधानम्

सूत्र १

भिक्खू य इच्छेज्जा नाय-विहिं एत्तए,
नो से कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता नाय-विहिं एत्तए।
कप्पइ से थेरे आपुच्छित्ता नाय-विहिं एत्तए।
थेरा य से वियरेज्जा—
एवं से कप्पइ नायविहिं एत्तए।
थेरा य से नो वियरेज्जा—
एवं से नो कप्पइ नायविहिं एत्तए।
जे तत्थ थेरेहिं अविइण्णे नायविहिं एइ
से संतरा छेए वा परिहारे वा।

स्वजन गृह गमन विधि

भिक्षु और भिक्षुणी यदि स्वजनों के घर जाना चाहे तो—

स्थविरों को पूछे बिना (भिक्षु और भिक्षुणियों को) स्वजनों के घर जाना नहीं कल्पता है।

स्थविरों को पूछकर (भिक्षु और भिक्षुणियों को) स्वजनों के घर जाना कल्पता है।

स्थविर यदि आज्ञा दें तो (भिक्षु और भिक्षुणियों को) स्वजनों के घर जाना कल्पता है।

स्थविर यदि आज्ञा न दें तो (भिक्षु और भिक्षुणियों को) स्वजनों के घर जाना नहीं कल्पता है।

स्थविरों की आज्ञा के बिना भिक्षु और भिक्षुणियां यदि स्वजनों के घर जावें तो वे दीक्षाछेद या परिहार प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

सूत्र २

नो से कप्पइ अप्पसुयस्स अप्पागमस्स एगाणियस्स नायविहिं एत्तए।

अल्पश्रुत और अल्पआगमज्ञ अकेले भिक्षु और भिक्षुणी को स्वजनों के घर जाना नहीं कल्पता है।

सूत्र ३

कप्पइ से जे तत्थ वहुस्सुए वब्भागमे
तेण सद्धिं नायविहिं एत्तए।

समुदाय में जो वहुश्रुत और वहु-आगमज्ञ भिक्षु हो उनके साथ अल्पश्रुत और अल्पआगमज्ञ भिक्षु को तथा वहुश्रुत और वहुआगमज्ञ भिक्षुणी के साथ अल्पश्रुत और अल्पआगमज्ञ भिक्षुणी को स्वजनों के घर जाना कल्पता है।

ज्ञातिगृहे कल्प्याकल्प्य-भिक्षाग्रहणविधानम्

सूत्र ४

तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते चाउलोदणे,
पच्छाउत्ते भिलिंगसूवे,
कप्पइ से चाउलोदणे पडिग्गाहित्तए।
नो से कप्पइ भिलिंगसूवे पडिग्गाहित्तए।

स्वजनगृह से आहारादि लेने की विधि

भिक्षु और भिक्षुणी के आगमन से पूर्व स्वजन के घर पर चावल वने (रंधे) हुए हों और आगमन के पश्चात् दाल वने तो भिक्षु और भिक्षुणी को चावल लेना कल्पता है, किन्तु दाल लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र ५

तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते भिलिंगसूवे
पच्छाउत्ते चाउलोदणे,
कप्पइ से भिलिंगसूवे पडिग्गाहित्तए।
नो से कप्पइ चाउलोदणे पडिग्गाहित्तए।

भिक्षु और भिक्षुणी के आगमन से पूर्व स्वजन के घर पर दाल वनी हुई हो और आगमन के वाद चावल वने तो भिक्षु और भिक्षुणी को दाल लेना कल्पता है, किन्तु चावल लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र ६

तत्थ से पुव्वागमणेणं दो वि पुव्वाउत्ते,
कप्पइ से दो वि पडिग्गाहित्तए।

भिक्षु और भिक्षुणी के आगमन से पूर्व स्वजन के घर पर यदि चावल और

दाल दोनों बने हुए हो तो भिक्षु और भिक्षुणी को (चावल-दाल) दोनों लेने कल्पते हैं।

सूत्र ७

तत्थ से पुव्वागमणेणं दो वि पच्छाउत्ते,

नो से कप्पइ दो वि पडिग्गाहित्तए।

भिक्षु और भिक्षुणी के आगमन के बाद स्वजन के घर पर यदि चावल और दाल बने तो भिक्षु और भिक्षुणी को दोनों लेने नहीं कल्पते हैं।

सूत्र ८

जे से तत्थ पुव्वागामणेणं पुव्वाउत्ते

से कप्पइ पडिग्गहित्तए।

(तात्पर्य यह है कि—) भिक्षु और भिक्षुणी के आगमन से पूर्व स्वजन के घर पर बने हुए दाल-चावल भिक्षु और भिक्षुणियों को लेने कल्पते हैं।

सूत्र ९

जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पच्छाउत्ते,

नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए।

आगमन के बाद बने हुए लेने नहीं कल्पते हैं।

आचार्यादीनामतिशयनिरूपणम्

सूत्र १०

आयरिय-उवज्झायस्स गणंसि पंच अइसेसा पण्णत्ता,

तं जहा :—

(१) आयरिय-उवज्झाए अंतो उवस्सयस्स पाए निगिज्झिय-निगिज्झिय पप्फोडेमाणे वा पमज्जेमाणे वा नाइक्कमइ।

(२) आयरिय-उवज्झाए अंतो उवस्सयस्स उच्चार-पासवणं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नाइक्कमइ।

(३) आयरिय-उवज्झाए पभूवेयावडियं इच्छा करेज्जा, इच्छा नो करेज्जा।

(४) आयरिय-उवज्झाए अंतो उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे नाइक्कमइ।

(५) आयरिय-उवज्झाए बाहिं उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे नाइक्कमइ।

आचार्य और उपाध्याय के अतिशय

गण में आचार्य और उपाध्याय के पांच अतिशय कहे गये हैं, यथा—

(१) आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर धूल से भरे अपने पैरों को पकड़-पकड़ कर कपड़े से पोंछे या प्रमार्जन करें तो मर्यादा (जिनाज्ञा) का उल्लंघन नहीं होता है।

(२) आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर मल-मूत्रादि का त्याग तथा शुद्धि करें तो मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है।

(३) सशक्त आचार्य या उपाध्याय इच्छा हो तो वैयावृत्य करें, न हो तो न करें—फिर भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है।

(४) आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर किसी विशेष कारण से यदि एक दो रात अकेले रहें तो भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है।

(५) आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के बाहर किसी विशेष कारण से यदि एक दो रात अकेले रहें तो भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है।[1]

विशेषार्थ—ये पांचों अतिशय अपवाद रूप हैं—

प्रथम अतिशय—श्रमण समाचारी का सामान्य विधान है—प्रत्येक श्रमण उपाश्रय के बाहर पादप्रोंछन से पैरों का प्रमार्जन करके उपाश्रय में प्रवेश करे किन्तु आचार्य या उपाध्याय किसी विशेष कार्य के लिए उपाश्रय से बाहर कहीं गए हों और पीछे से आए हुए श्रमण निर्ग्रन्थ या पर्व तिथि के उपवास का पारणा करनेवाले श्रमणोपासक उन्हें वन्दना करके जाने की भावना से प्रतीक्षा कर रहे हों अथवा मध्याह्न के सूर्य से भूमि संतप्त हो तो वे उपाश्रय के बाहर पैरों का प्रमार्जन न करके उपाश्रय में आकर प्रमार्जन करे—क्योंकि वे जितनी देर बाहर ठहरेंगे उतनी देर श्रमणोपासकों के पारणे में अन्तराय रहेगी अथवा आगन्तुक श्रमण वंदन के लिए बाहर आवेंगे तो पैर जलेंगे इत्यादि कारणों की सूचना भाष्यकार ने दी है।

द्वितीय अतिशय—उच्चार-प्रश्रवण भूमि-सम्पन्न उपाश्रय में ही श्रमण-निर्ग्रन्थ ठहरे किन्तु अतिसार पीड़ित या आकस्मिक मलावेग-पीड़ित श्रमण ही उस भूमि में संज्ञा (मल-विसर्जन) से निवृत्त हों और अन्य सभी सशक्त स्वस्थ

---

१ (क) ठा० अ० ५, उ० २ सू० ४३८।
(ख) ठा० अ० ७, सू० ५७०।

श्रमण ग्राम-नगरादि से वाहर दूर एकान्त स्थण्डिल में संज्ञा (मल-विसर्जन) से निवृत्त हों।—यह सामान्य विधान है।

यह अपवाद विधान केवल आचार्य, उपाध्याय के लिए है—भाष्यकार ने इस अपवाद विधान के कुछ कारण सूचित किये हैं। यथा—

प्रथम कारण—राजा या राजकुमार अथवा अन्य कोई प्रभुत्व-सम्पन्न गृहस्थ धर्म-श्रवण के लिए आ रहा हो उस समय उपाश्रय से संलग्न उच्चार-प्रश्रवण भूमि में ही आचार्य या उपाध्याय मल-विसर्जनादि से निवृत्त हों तो मर्यादा का अतिक्रमण नहीं होता है।

द्वितीय कारण—ग्राम या नगर से वाहर दूर एकान्त संज्ञा भूमि में मल-विसर्जन के लिए जाने पर अधिक समय लगने की संभावना हो और सूत्रार्थ की वाचना लेने के लिए अन्य गण से आये हुए श्रमणों को वाचना देने का समय न मिलता हो तो आचार्य या उपाध्याय उपाश्रय से संलग्न उच्चार-प्रश्रवण भूमि में ही मल-विसर्जन से निवृत्त होकर अवशिष्ट समय में प्रातिच्छकों (वाचना के लिए अन्य गण से आए हुए श्रमणों) को सूत्रार्थ की वाचना दें, जिससे उनके सूत्रार्थ की हानि न हो—ऐसा करने से मर्यादा का अतिक्रमण नहीं होता।

तृतीय कारण—अन्य दर्शन का अभिमानी पण्डित आचार्य या उपाध्याय से वाद-विवाद के लिए आवे उस समय वे ग्राम या नगर से वाहर दूर एकान्त संज्ञाभूमि में मल-विसर्जन के लिए गए हुए हों तो वह उनका लोकापवाद करने लगता है। 'मेरे भय से तुम्हारे आचार्य या उपाध्याय को विरेचन हो गया है' अथवा मेरे भय से पलायन कर गये हैं।"—इस प्रकार जिन शासन की अवहेलना न हो—इसके लिए उपाश्रय से संलग्न उच्चार-प्रश्रवण भूमि में आचार्य या उपाध्याय मल-विसर्जन करें तो मर्यादा का अतिक्रमण नहीं होता।

चतुर्थ कारण—आचार्य या उपाध्याय के पाण्डित्य-प्रभाव से अथवा जिन शासन के गौरव से ईर्ष्या भाव रखने वाले आचार्य या उपाध्याय जव गाँव के वाहर दूर एकान्त में शौच के लिए गए हों तव वे वहाँ पर किसी पुंश्चली स्त्री को भेजें और उसके द्वारा शीलभंग करने का आरोप लगावें अथवा अन्य किसी प्रकार से कलंकित करने का प्रयत्न करें अतः उपाश्रय से संलग्न उच्चार-प्रश्रवण भूमि में मल-विसर्जन करें तो मर्यादा का अतिक्रमण नहीं होता।

पंचम कारण—आचार्य या उपाध्याय शौच के लिए जव ग्राम या नगर से वाहर जावे तव वाजार में दुकानों पर बैठे हुए वणिक जन' कुछ दिन तो

अभ्युत्थानादि से उनका विनय करें और बाद में उन्हें देखकर प्रमादवश अभ्युत्थानादि न करें या उन्हें देखकर मुंह फेर लें तो जनसाधारण में यह धारणा बनती है कि ये आचार्य या उपाध्याय पतित हो गए प्रतीत होते हैं क्योंकि पहले तो ये वणिक लोग इनका सम्मान करते थे और अब नहीं करते हैं। इत्यादि कारणों से आचार्य या उपाध्याय उपाश्रय से संलग्न उच्चार-प्रश्रवण भूमि में मल-विसर्जन करें तो मर्यादा का अतिक्रमण नहीं होता है।

यह पंचातिशय का सूत्र यद्यपि अपवाद सूत्र है तथापि उत्सर्ग सूत्र के समान ही आचरणीय है।

पूर्वोक्त कारणों में से किसी एक कारण के होने पर आचार्य या उपाध्याय ग्राम या नगरादि के बाहर दूर एकान्त भूमि में ही मल-विसर्जन के लिए जावें तो वे प्रायश्चित्त के पात्र हैं। क्योंकि उनके इस प्रकार के आचरण से जिन-शासन की अवहेलना होती है।

तृतीय अतिशय—इस अतिशय के सम्बन्ध में भाष्यकार ने विस्तृत विचारणा की है अतः जिज्ञासु पाठक भाष्य का अध्ययन करें।

चतुर्थ और पंचम अतिशय का अभिप्राय है—जिन शासन की प्रभावना हेतु अणिमादिलब्धियों की सिद्धि के लिए अथवा महाप्राण ध्यान के लिए आचार्य या उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर या बाहर एकाकी रहें तो मर्यादा का अतिक्रमण नहीं होता।

गणावच्छेदकस्य-अतिशेषाः

सूत्र ११

गणावच्छेइयस्स णं गणंसि दो अइसेसा पण्णत्ता, तं जहा—

(१) गणावच्छेइए अंतो उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे नाइक्कमइ।

(२) गणावच्छेइए बाहिं उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे नाइक्कमइ।

गणावच्छेदक के अतिशेष

गण में गणावच्छेदक के दो अतिशेष (अतिशय) कहे गए हैं, जैसे—

(१) गणावच्छेदक उपाश्रय के अन्दर किसी विशेष कारण से यदि एक-दो रात अकेले रहें तो मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है।

(२) गणावच्छेदक उपाश्रय के बाहर किसी विशेष कारण से यदि एक-दो रात अकेले रहें तो मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है।

अगीतार्थानां वसतिवास-निषेधः

सूत्र १२

से गामंसि वा जाव[1] सन्निवेसंसि वा
एगवगडाए, एगदुवाराए, एगनिक्खमण-पवेसाए
नो कप्पइ बहूणं अगडसुयाणं एगयओ वत्थए।
अत्थि याइं णं केइ आयार-पकप्पधरे,
नत्थि याइं णं केइ छेए वा परिहारे वा।
नत्थि याइं णं केइ आयार-पकप्पधरे
[2]से संतरा छेए वा परिहारे वा।

अल्पज्ञ भिक्षु का वसति-निवास-निषेध

एक बाड़ प्राकार या द्वारवाले और एक निष्क्रमण-प्रवेश (मार्ग) वाले ग्राम यावत् सन्निवेश में अनेक अकृत श्रुत (अल्पज्ञ) भिक्षुओं का (भी) एक साथ बसना नहीं कल्पता है।

यदि उनमें कोई (एक) आचार कल्पधर हो तो वे दीक्षा छेद या परिहार प्रायश्चित्त के पात्र नहीं होते है।

यदि उनमें कोई (एक भी) आचार-कल्पधर न हो तो वे जितने दिन वहाँ रहें उतने दिन के दीक्षाछेद या परिहार प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

सूत्र १३

से गामंसि वा जाव सन्निवेसंसि वा
अभिनिव्वगडाए, अभिनिद्दुवाराए, अभिनिक्खमण-पवेसणाए
नो कप्पइ बहूणं वि अगडसुयाणं एगयओ वत्थए।
अत्थि याइं णं केइ आयार-पकप्पधरे
जे तत्तियं रयणिं संवसइ
नत्थि याइं णं केइ छेए वा परिहारे वा।
नत्थियाइं णं केइ आयार-पकप्पधरे
जे तत्तियं रयणिं संवसइ,
सव्वेसिं तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा।

---

१ रायहाणिंसि वा। एवं अग्रेरपि
२ सव्वेसिं तेसिं संतरा०।

भिन्न-भिन्न वाड़, प्राकार या द्वारवाले और भिन्न-भिन्न निष्क्रमण-प्रवेश (मार्ग) वाले ग्राम यावत् सन्निवेश में (भी) अनेक अकृत-श्रुत (अल्पज्ञ) भिक्षुओं को (भी) एक साथ वसना नहीं कल्पता है।

यदि उनमें कोई आचार-कल्पधर हो तो वे दीक्षाछेद या परिहार प्रायश्चित्त के पात्र नहीं होते हैं।

यदि उनमें कोई आचार-कल्पधर न हो तो वे जितने दिन वहां रहें उतने दिन के दीक्षाछेद या परिहार प्रायश्चित के पात्र होते हैं।

गीतार्थस्य वसति-वासे विधि-निषेधविधानम्

सूत्र १४

से गामंसि वा जाव सन्निवेसंसि वा
अभिनिव्वगडाए, अभिनिद्दुवाराए, अभिनिक्खमण-पवेसणाए
नो कप्पइ बहुस्सुयस्स बब्भागमस्स एगाणियस्स भिक्खुस्स वत्थए
किमंगपुण अप्पसुयस्स अप्पागमस्स ?

बहुश्रुत वसति निवास-विधि-निषेध

भिन्न-भिन्न वाड़, प्राकार या द्वारवाले और भिन्न-भिन्न निष्क्रमण-प्रवेश वाले ग्राम यावत् सन्निवेश में अकेले बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ भिक्षु को भी वसना नहीं कल्पता है तो अल्पश्रुत और अल्पागमज्ञ भिक्षु को (पूर्वोक्त ग्राम यावत् सन्निवेश में) वसना कैसे कल्प सकता है ?

सूत्र १५

से गामंसि वा जाव सन्निवेसंसि वा
एगवगडाए, एगदुवाराए, एगनिक्खमण-पवेसाए
कप्पइ बहुस्सुयस्स बब्भागमस्स एगाणियस्स भिक्खुस्स वत्थए
दुहओ कालं भिक्खुभावं पडिजागरमाणस्स।

एक वाड़ प्राकार या द्वार वाले और एक निष्क्रमण-प्रवेश वाले ग्राम यावत् सन्निवेश में अकेले बहुश्रुत और बहु आगमज्ञ को वसना कल्पता है यदि वह भिक्षुभाव (संयमभाव) के प्रति सतत जागृत हो तो।

विशेषार्थ—ग्रामादि वस्तियां दो प्रकार की होती है—(१) एक प्रवेश-निर्गम द्वारवाली और (२) अनेक प्रवेश-निर्गम द्वारवाली।

श्रमण भी दो प्रकार के होते हैं—(१) अल्पश्रुत अर्थात् अगीतार्थ और (२) बहुश्रुत अर्थात् गीतार्थ ।

अगीतार्थ एक हों या अनेक, उक्त दोनों प्रकार की वस्तियों में नहीं ठहर सकते हैं यदि ठहरें तो प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं। यदि उनमें एक भी आचार प्रकल्पधर (निशीथ का ज्ञाता) हो तो दोनों प्रकार की वस्तियों में ठहर सकते हैं।

गीतार्थ यदि एक से अधिक हों तो वे सब प्रकार की वस्तियों में ठहर सकते हैं किन्तु अकेला हो तो एक प्रवेश-निर्गम द्वार वाली वस्ती में ही ठहर सकता है ।

इन विधि-निषेधों का अभिप्राय यह है कि अकेला अल्पश्रुत न वस्ती में रहे और न वन में—वह जहाँ भी रहे बहुश्रुत के साथ ही रहे ।

अगीतार्थ गीतार्थ के साथ ही विहार कर सकता है और गीतार्थ अकेला भी विचर सकता है फिर भी वस्ती निवास निषेध और प्रायश्चित्त विधान जो किया गया है भाष्यकार ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि यदि कोई अगीतार्थ पथ-विस्मृत हो जाय या अकाल वर्षा से अथवा नदी-नाले आने से बिछुड़ जाय तो अगीतार्थ कहाँ ठहरे और कहाँ न ठहरे—इसके समाधान के लिए यह सूत्र सार्थक है ।

अनङ्गक्रीडाकर्तुः प्रायश्चित्तविधानम्

सूत्र १६

'जत्थ'[1] एए बहवे इत्थीओ य पुरिसा य पण्हायंति
तत्थ से समणे निग्गंथे अन्नयरंसि अचित्तंसि सोयंसि सुक्कपोग्गले निग्घाएमाणे
हत्थकम्मपडिसेवणपत्ते आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।

जहाँ पर अनेक स्त्री-पुरुष मैथुन सेवन (प्रारम्भ) करते हैं उन्हें देखकर वह (एकाकी अगीतार्थ) श्रमण-निर्ग्रन्थ हस्तकर्म से किसी अचित्त श्रोत में शुक्र-पुद्गल निकाले तो अनुद्घातिक (गुरु) मासिक परिहार स्थान (तप प्रायश्चित्त) प्राप्त होता है ।

सूत्र १७

जत्थ एए बहवे इत्थीओ य पुरिसा य पण्हायंति
तत्थ से समणे निग्गंथे अन्नयरंसि अचित्तंसि सोयंसि सुक्कपोग्गले निग्घाएमाणे
मेहुण-पडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।

---

१ जे तत्थ ।

जहाँ पर अनेक स्त्री-पुरुप मैथुन सेवन (प्रारम्भ) करते हैं उन्हें देखकर वह (एकाकी अगीतार्थ) श्रमण-निर्ग्रन्थ मैथुन सेवन करके किसी अचित्त श्रोत में शुक्र-पुद्गल निकाले तो अनुद्घातिक (गुरु) चातुर्मासिक परिहार स्थान (तप-प्रायश्चित्त) प्राप्त होता है।

विशेषार्थ— इन दोनों सूत्र के दो स्थल विचारणीय हैं।

पहला है—अनेक स्त्री-पुरुपों के मैथुन सेवन का अवलोकन।

दूसरा है—हस्तकर्म ! हस्तकर्म और मैथुन दोनों श्रमण के लिए अकरणीय कृत्य हैं और मूलार्ह हैं अर्थात् मूलमहाव्रत का भंग होने से पुनः महाव्रतारोपण योग्य हैं किन्तु यहाँ अनुद्घातिक मासिक और चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का ही विधान है।

भाष्यकार ने इन दोनों सूत्रों की व्याख्या इस प्रकार की है :—

अस्य व्याख्या—यत्र-यस्मिन्प्रदेशे प्रत्यक्षत उपलभ्यमानाः स्त्रियः पुरुषाश्च प्रश्नुवंति-मैथुनकर्मप्रारंभते तत्र-तस्मिन् प्रदेशे मैथुन कर्मदृष्ट्वा कश्चिदुदीर्णमोहः स श्रमणो निर्ग्रन्थोऽन्यतरस्मिन्न-चित्ते हस्तकर्माद्यु्चिते युगछिद्र नलिकादौ श्रोत्रवति शुक्र-पुद्गलान् निर्घातयन् शुक्रपुद्गल निर्घाताय हस्तकर्म प्रवेशनाय प्रसक्तो भवति। स च तथा प्रसक्त आपद्यते अनुद्घातिकं गुरुकं मासिकं परिहार-स्थानं प्रायश्चित्तस्थानं।

तथा यत्रैते वहवः स्त्रियः पुरुषाश्च प्रश्नुवन्ति—मैथुनकर्म प्रारंभन्ते तत्र तत् दृष्ट्वा कश्चित् स श्रमणो निर्ग्रन्थोऽन्यतरस्मिन्नचित्ते प्रतिमादौ श्रोत्रवति शुक्रपुद्गलान् निर्घातयन् मैथुनप्रतिसेवन प्रसक्तो भवति। स च तथा प्रसक्त आपद्यते चातुर्मासिकमनुद्घातिकं परिहारस्थानमित्येष सूत्रसंक्षेपार्थः।

अन्यगणादागतानां ग्रहण-पदप्रदाना-प्रदान विधानम्

सूत्र १८

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
निग्गंथि [1]अण्णगणाओ आगयं
खुयायारं सबलायारं

---

१ क्वचिदिदं नास्ति।

भिन्नायारं संकिलिट्ठायारचित्त[1]
तस्स ठाणस्स अणालोयावेत्ता अपडिक्कमावेत्ता,
अनिंदावेत्ता, अगरहावेत्ता,
अविउट्टावेत्ता, अविसोहावेत्ता,
अकरणाए अणब्भुट्ठावेत्ता, अहारिहं पायच्छित्तं अपडिवज्जावेत्ता[2]
उवट्ठावेत्तए वा, संभुजित्तए वा संवसित्तए वा [3]तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा, धारेत्तए वा।

अन्य गण से आये हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को चरित्र-शुद्धि करके सम्मिलित करने का विधान

खण्डित शबल भिन्न और संक्लिष्ट आचार वाली निर्ग्रन्थी यदि अन्य गण से सम्मिलित होने के लिए आए तो (निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ जब तक उससे पूर्ण सेवित दोष की) आलोचना, प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, व्युत्सर्ग एवं आत्म-शुद्धि न करालें और भविष्य में पुनः पापस्थान सेवन न करने की प्रतिज्ञा कराके दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार न करालें तब तक (निर्ग्रन्थ) निर्ग्रन्थियों को उसे (पुनः चारित्र में) उपस्थापित करना, उसके साथ साम्भोगिक (द्वादश) व्यवहार करना और साथ में रखना नहीं कल्पता है, तथा उसे अल्पकाल या यावज्जीवन के लिए (प्रवर्तिनी और गणावच्छेदिनी) पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

सूत्र १९

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
निग्गंथि अन्नगणाओ आगयं
खुयायारं वा, सबलायारं वा,
भिन्नायारं वा, संकिलिट्ठायारचित्तं वा
तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता, पडिक्कमावेत्ता
निंदावेत्ता, गरहावेत्ता
विउट्टावेत्ता, विसोहावेत्ता

---

१ चरित्तं।
२ तेसिं।
३ ता पुच्छित्तए वा वाएत्तए वा उव०।

अकरणाए अब्भुट्ठावेत्ता, अहारिहं पायच्छित्तं पडिवज्जावेत्ता
उवट्ठावेत्तए वा, संभुंजित्तए वा, संवसित्तए वा,
तीसे इत्तरियं वा दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

खण्डित शबल भिन्न और संक्लिष्ट आचार वाली निर्ग्रन्थी यदि अन्य गण से सम्मिलित होने के लिए आए और (निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ उससे पूर्व सेवित दोष की) आलोचना, प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, व्युत्सर्ग एवं आत्मशुद्धि करालें तथा भविष्य में पुनः पापस्थानक सेवन न करने की प्रतिज्ञा के साथ दोषानु-रूप प्रायश्चित्त स्वीकार करालें तो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को उसे (पुनः चारित्र में) उपस्थापित करना, उसके साथ साम्भोगिक (द्वादश) व्यवहार करना, और साथ में रखना कल्पता है, तथा उसे अल्पकाल या यावज्जीवन के लिए (प्रवर्तिनी और गणावच्छेदिनी) पद देना या धारण करना कल्पता है।

सूत्र २०

[1]नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
निग्गंथं अन्नगणाओ आगयं
खुयायारं वा जाव-संकिलिट्ठायारचित्तं वा
तस्स ठाणस्स अणालोयावेत्ता जाव—
अहारियं पायच्छित्तं अपडिवज्जावेत्ता
उवट्ठावेत्तए वा, संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा,
तस्स इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

खंडित यावद् संक्लिष्ट आचार वाला निर्ग्रन्थ यदि अन्य गण से सम्मि-लित होने के लिए आए तो (निर्ग्रंथ-निर्ग्रन्थियाँ जब तक उससे पूर्व सेवित दोष की) आलोचना, प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, व्युत्सर्ग एवं आत्मशुद्धि न करा लें और भविष्य में पुनः पापस्थान सेवन न करने की प्रतिज्ञा कराके दोषानुरूप प्राय-श्चित्त स्वीकार न करालें (तब तक) निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को उसे (पुनः चारित्र में) उपस्थापित करना, उसके साथ साम्भोगिक (द्वादश) व्यवहार करना और साथ में रखना नहीं कल्पता है, तथा उसे अल्पकाल या यावज्जीवन के लिए (आचार्य यावत् गणावच्छेदक) पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

---

१ नास्तीदं सूत्रं क्वचिदादर्शेपु

सूत्र २१

कप्पइ[1] निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
निग्गंथं अन्नगणाओ आगयं
खुयायारं वा जाव संकिलिट्ठायारचित्तं
तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता जाव-अहारिहं पायच्छित्तं पडिवज्जावेत्ता
उवट्ठावेत्ताए वा, संभुंजित्ताए वा संवसित्ताए वा,
तस्स इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तेए वा ।

त्ति बेमि

खण्डित यावद् संक्लिष्ट आचार वाला निर्ग्रन्थ यदि अन्य गण से सम्मिलित होने के लिए आये और (निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ उससे पूर्व सेवित दोष की) आलोचना, प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, व्युत्सर्ग एवं आत्मशुद्धि करालें तथा भविष्य में पुनः पापस्थान सेवन न करने की प्रतिज्ञा के साथ दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार करा लें तो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को उसे (पुनः चारित्र में) उपस्थापित करना, उसके साथ साम्भोगिक (द्वादश) व्यवहार करना और साथ में रखना कल्पता है, तथा उसे अल्पकाल या यावज्जीवन के लिए (आचार्य यावत् गणावच्छेदक) पद देना या धारण करना कल्पता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥

छठा उद्देशक समाप्त

---

१ इदमपि सूत्रं नोपलभ्यते क्वचिदादर्शेषु ।

सत्तमो उद्देसओ

सप्तम उद्देशक

अन्यगणादागतानां साम्भोगिकानां ग्रहण-पदप्रदान-विधानम्

सूत्र १

जे निग्गंथा य निग्गंथीओ य संभोइया सिया,
नो कप्पइ निग्गंथीणं निग्गंथे अणापुच्छित्ता
निग्गंथिं अन्नगणाओ आगयं
खुयायारं, सबलायारं,
भिन्नायारं, संकिलिट्ठायारचित्तं,[१]
तस्स ठाणस्स अणालोयावेत्ता जाव पायच्छित्तं अपडिवज्जावेत्ता
पुच्छित्तए वा, वाएत्तए वा
उवट्ठावेत्तए वा, संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा,
तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

अन्य गण से आई हुई निर्ग्रन्थिनी को गणप्रमुख निर्ग्रन्थ की आज्ञा से गण में सम्मिलित करने का विधान

साम्भोगिक निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों के समीप यदि कोई क्षत-यावत् संक्लिष्ट चित्तवाली निर्ग्रन्थिनी गण में सम्मिलित होने के लिए आए तो (निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियाँ जब तक उससे पूर्व सेवित पाप स्थान की) आलोचना यावत् दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार न कराले और गणप्रमुख निर्ग्रन्थ को पूछ न लें तब तक उस निर्ग्रन्थिनी की सुख-शाता पूछना, उसे वाचना देना, चारित्र में पुनः उपस्थापित करना, उसके साथ बैठकर भोजन करना और साथ रखना नहीं कल्पता है। तथा उसे अल्पकाल या यावज्जीवन के लिए प्रवर्तिनी और गणावच्छेदिनी पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

सूत्र २

जे निग्गंथा य निग्गंथीओ य संभोइया सिया,
कप्पइ निग्गंथीणं निग्गंथे आपुच्छित्ता ?[२]

---

१ चरित्तं।
२ सटीक प्रतौ: 'अणापुच्छित्ता वा' इत्यधिकः पाठः

निग्गंथि अन्नगणाओ आगयं
खुयायारं, सबलायारं
भिन्नायारं संकिलिट्ठायारचित्तं
तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता जाव पायच्छित्तं पडिवज्जावेत्ता
पुच्छित्तए वा, वाएत्तए वा,
उवट्ठावेत्तए वा, संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा,
तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

'साम्भोगिक निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों के समीप यदि कोई क्षत-यावत्—संक्लिष्ट चित्तवाली निर्ग्रन्थिनी गण में सम्मिलित होने के लिए आए और (निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियाँ उससे पूर्व सेवित दोष की) आलोचना यावत् दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार करालें तथा गणप्रमुख निर्ग्रन्थ को पूछलें तो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों को उस निर्ग्रन्थिनी की सुख-शाता पूछना, उसे वाचना देना, चारित्र में पुनः उपस्थापित करना, उसके साथ बैठकर भोजन करना और साथ रखना कल्पता है।

उसे अल्पकाल या यावज्जीवन के लिए (प्रवर्तिनी और गणावच्छेदिनी) पद देना या धारण करना कल्पता है।

सूत्र ३

जे[1] निग्गंथा य निग्गंथीओ य संभोइया सिया,
कप्पइ निग्गंथाणं निग्गथीओ आपुच्छित्ता वा अणापुच्छित्ता वा
निग्गंथिं अन्नगणाओ आगयं
खुयायारं, सबलायारं
भिन्नायारं संकिलिट्ठायारचित्तं
तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता जाव पायच्छित्तं पडिवज्जावेत्ता
पुच्छित्तए वा, वाएत्तए वा
उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा,
तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।
तं च निग्गंथीओ नो इच्छेज्जा, सयमेव नियं ठाणं।[2]

---

१ सूत्रमिदं सटीकप्रतौ नास्ति
२ सयमेव, सेहमेव (टीकायां)

'साम्भोगिक निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों के समीप यदि कोई क्षत-यावत् संक्लिष्ट चित्तवाली निर्ग्रन्थिनी गण में सम्मिलित होने के लिए आए और (निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियाँ उससे पूर्व सेवित दोष की) आलोचना यावत् दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार करालें तो गण प्रमुख निर्ग्रन्थ को पूछें चाहे न पूछें उस निर्ग्रन्थिनी की सुख-शाता पूछना, उसे वाचना देना, चारित्र में पुनः उपस्थापित करना, उसके साथ बैठकर भोजन करना और साथ रखना कल्पता है।

उसे अल्पकाल या यावज्जीवन के लिए (प्रवर्तिनी और गणावच्छेदिनी) पद देना या धारण करना कल्पता है।

यदि निर्ग्रन्थिनियाँ उसे न रखना चाहें तो उसे चाहिए कि वह अपने गण में सम्मिलित हो जाए।

साम्भोगिकस्य विसाम्भोगिककरण विधानम्

सूत्र ४

जे निग्गंथा य निग्गंथीओ य संभोइया सिया,
नो णं कप्पइ[1] पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए।
कप्पइ णं पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए।
जत्थेव अन्नमन्नं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—
"अहं णं अज्जे! तुमाए सद्धिं इमंमि कारणम्मि पच्चक्खं संभोगं विसंभोगं करेमि।"
से य पडितप्पेज्जा,
एवं से नो कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए।
सेय नो पडितप्पेज्जा
एवं से कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए।

सम्बन्ध विच्छेद का विधान

जो साम्भोगिक निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियां है, उन्हें किसी एक निर्ग्रन्थ को परोक्ष में (साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके) विसम्भोगी (सम्बन्ध विच्छेद) करना नहीं कल्पता है।

किन्तु प्रत्यक्ष में (उसके साथ) साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसम्भोगी करना कल्पता है।

जब वे एक दूसरे को (से) देखें (मिलें) तब इस प्रकार कहें—"हे आर्य! मैं अमुक (तुम्हारे द्वारा सेवितदोष के) कारण से तुम्हारे साथ साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके तुम्हें विसम्भोगी (सम्बन्ध विच्छेद) कर रहा हूं।"

---

[1] 'निग्गंथे' इत्यधिकं पदं क्वचित्।

(इस प्रकार कहने पर) वह यदि परिताप (पश्चात्ताप करे और कहे कि "भविष्य में पुनः इस प्रकार का दुष्कृत्य नहीं करूँगा) करे तो प्रत्यक्ष में भी (उसके साथ) साम्भोगिक व्यवहार बन्द करना व उसे विसम्भोगी करना नहीं कल्पता है।

यदि वह परिताप न करे तो प्रत्यक्ष में ही (उसके साथ) साम्भोगिक व्यवहार बन्द करना व उसे विसम्भोगी करना कल्पता है।

सूत्र ५

जाओ निग्गंथीओ वा निग्गंथा वा संभोइया सिया
नो णं कप्पइ[1] पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए।
कप्पइ णं पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए।
जत्थेव ताओ अप्पणो आयरिय-उवज्झाए पासेज्जा
तत्थेव एवं वएज्जा—
अहं णं भंते! अमुगीए अज्जाए सद्धिं इमम्मि कारणम्मि
परोक्खं पाडिएक्कं संभोगं विसंभोगं करेमि।"
सा य से पडितप्पेज्जा
एवं से नो कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए।
सा य नो पडितप्पेज्जा
एवं से कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए।

जो साम्भोगिक निर्ग्रन्थिनियाँ या निर्ग्रन्थ है उन्हें किसी एक निर्ग्रन्थिनी को प्रत्यक्ष में (साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके) विसम्भोगी करना नहीं कल्पता है।

किन्तु परोक्ष में उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसंभोगी करना कल्पता है।

(विसम्भोगी करने के बाद) वे निर्ग्रन्थियाँ अपने आचार्य या उपाध्याय को जहाँ देखें वहाँ इस प्रकार कहें—"हे भंते! अमुक आर्य के साथ अमुक कारण से परोक्ष में साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसम्भोगी करती हूँ।"

"(निर्ग्रन्थी के ऐसा कहने पर आचार्य या उपाध्याय दोष सेवन करने वाली निर्ग्रन्थी से कहे कि—"अमुक दोष तुमने सेवन किया है अतः अमुक निर्ग्रन्थी तुम्हारे साथ साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके तुम्हें विसम्भोगी करती है—इस सम्बन्ध में तुम क्या कहना चाहती हो।"

(आचार्य या उपाध्याय के ऐसा कहने पर) वह निर्ग्रन्थी यदि परिताप

---

१ 'निग्गंथी' इत्यधिकं पदं क्वचित्।

करे तो उसके साथ परोक्ष में (भी) साम्भोगिक व्यवहार बन्द करना व उसे विसम्भोगी करना नहीं कल्पता है।

यदि वह परिताप न करे तो प्रत्यक्ष में भी उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार बन्द करना व उसे विसम्भोगी करना कल्पता है।

प्रव्रज्या-विधानम्

सूत्र ६

नो कप्पइ निग्गंथाणं निग्गंथिं अप्पणो अट्ठाए
पव्वावेत्तए वा मुण्डावेत्तए वा[1]
सेहावेत्तए वा उवट्ठावेत्तए वा
संवसित्तए वा, संभुंजित्तए वा
तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

प्रव्रज्या विधान

किसी निर्ग्रन्थिनी को अपनी शिष्या बनाने के लिए प्रव्रजित करना मुण्डित करना, शिक्षित करना, चारित्र में पुनः उपस्थापित करना और उसके साथ रहना, साथ बैठकर भोजन करना निर्ग्रन्थ को नहीं कल्पता है। तथा उसे अल्पकाल या यावज्जीवन के लिए प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

सूत्र ७

कप्पइ निग्गंथाणं निग्गंथिं अन्नेसिं अट्ठाए
पव्वावेत्तए वा जाव संभुंजित्तए वा,
तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

किसी (प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी) निर्ग्रन्थिनी की शिष्या बनाने के लिए किसी निर्ग्रन्थिनी को प्रव्रजित करना, मुण्डित करना, शिक्षित करना चारित्र में पुनः उपस्थापित करना और निर्ग्रन्थिनी के साथ रहने के लिए व साथ बैठकर भोजन करने के लिए निर्देश देना निर्ग्रन्थ को कल्पता है। तथा (निर्ग्रन्थिनी समुदाय के लिए) उसे अल्पकाल या यावज्जीवन के लिए प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद देना या धारण करना कल्पता है।

सूत्र ८

नो कप्पइ निग्गंथीणं निग्गंथं अप्पणो अट्ठाए
पव्वावेत्तए वा मुण्डावेत्तए वा जाव उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

---

1 'सिक्खावेत्तए वा' इत्यपि क्वचित्।

किसी निर्ग्रन्थ को अपने लिए प्रव्रजित करना, मुण्डित करना, शिक्षित करना, चारित्र में पुनः उपस्थापित करना और उसके साथ रहना, साथ बैठकर भोजन करना, निर्ग्रन्थिनी को नहीं कल्पता है। तथा उसे अल्पकाल या यावज्जीवन के लिए आचार्य-यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

सूत्र ९

कप्पइ निग्गंथीणं निग्गंथ निग्गंथाणं अट्ठाए
पव्वावेत्तए वा मुण्डावेत्तए वा जाव उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

किसी आचार्य यावत् गणावच्छेदक का शिष्य बनाने के लिए किसी निर्ग्रन्थ को प्रव्रजित करना, मुण्डित करना, शिक्षित करना चारित्र में पुनः उपस्थापित करना और आचार्य यावत् गणावच्छेदक के साथ रहने व साथ बैठकर भोजन करने के लिए निर्देश देना निर्ग्रन्थिनी को कल्पता है। तथा निर्ग्रन्थ समुदाय के लिए उसे अल्पकाल या यावज्जीवन के लिए आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करने के लिए अनुज्ञा देना कल्पता है।

विहार-विधानम्

सूत्र १०

नो कप्पइ निग्गंथीणं विइकिट्ठियं दिसं वा अणुदिसं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

विहार-विधान

निर्ग्रन्थियों को दूरस्थ या अति दूरस्थ क्षेत्र की ओर स्वयं जाना या किसी अन्य निर्ग्रन्थी को जाने के लिए अनुज्ञा देना नहीं कल्पता है।

सूत्र ११

कप्पइ निग्गंथाणं विइकिट्ठियं दिसं वा अणुदिसं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

निर्ग्रन्थों को दूरस्थ या अतिदूरस्थ क्षेत्र की ओर स्वयं जाना या किसी अन्य निर्ग्रन्थ का जाने के लिए अनुज्ञा देना कल्पता है।

अधिकरण-शमनविधानम्

सूत्र १२

नो कप्पइ निग्गंथाणं विइकिट्ठाइं पाहुडाइं विओसवेत्तए।

कलह-उपशमन

(निर्ग्रन्थों में यदि) कलह हो जावे तो दूरवर्ती क्षेत्र में (जहां आचार्य यावत् गणावच्छेदक हो वहां—") जाकर उपशमन करना निर्ग्रन्थों को नहीं कल्पता हैं।

विशेषार्थ—यदि निर्ग्रन्थ समुदाय आचार्य से अत्यधिक दूरवर्ती क्षेत्र में विहार कर रहा हो और उनमें परस्पर कलह आदि हो जाय तो (जहां कलह हो) वहीं शान्त करना कल्पता है। आचार्य के समीप पहुंचने तक कलह बनाया रखना नहीं कल्पता है।

सूत्र १३

कप्पइ निग्गंथीणं विइकिट्ठाइं पाहुडाइं विओसवेत्तए।

(निर्ग्रन्थियों में यदि) कलह हो जावे तो दूरवर्ती क्षेत्र में (जहां आचार्य-यावत् गणावच्छेदक तथा प्रवर्तिनी और गणावच्छेदिनी हो वहां) जाकर उपशमन करना निर्ग्रन्थिनियों को कल्पता है।

विशेषार्थ—यदि निर्ग्रन्थिनी समुदाय में कहीं परस्पर कलह हो जाय और आचार्य आदि वहां से बहुत दूर हो तो भी उनके समीप पहुंच कर ही कलह शान्त करना कल्पता है।

यदि निर्ग्रन्थिनियों का आचार्य के समीप पहुंचना सम्भव न हो कदाचित् आचार्य आदि वहीं आ जावें तो उनके सामने उपस्थित होकर कलह उपशमन करना चाहिए।

स्वाध्यायकाल-विधानम्

सूत्र १४

नो कप्पइ निग्गंथाणं
विइगिट्ठे काले सज्झायं उद्दिसित्तए वा करेत्तए वा।

स्वाध्याय-काल

निर्ग्रन्थों को व्यतिकृष्टकाल (विपरीत काल=कालिक आगम के स्वाध्याय काल में उत्कालिक आगम का स्वाध्याय करना तथा उत्कालिक आगम के स्वाध्यायकाल में कालिक आगम का स्वाध्याय करना) में स्वाध्याय करना नहीं कल्पता है।

सूत्र १५

कप्पइ निग्गंथीणं विइकिट्ठए काले सज्झायं करेत्तए[1]
निग्गंथ निस्साए।

---

१ उद्दिसित्तए।

निर्ग्रन्थ की निश्रामें निर्ग्रन्थियोंको व्यतिकृष्टकाल में (भी) स्वाध्याय करना कल्पता है।

सूत्र १६

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा

असज्झाइए सज्झायं करेत्तए।

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थिनियों को अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करना नहीं कल्पता है।

सूत्र १७

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सज्झाइए सज्झायं करेत्तए।

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को स्वाध्याय काल में (ही) स्वाध्याय करना कल्पता है।

सूत्र १८

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा

अप्पणो असज्झाइए सज्झायं करेत्तए।

कप्पइ णं अन्नमन्नस्स वायणं दलइत्तए।

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को स्वशरीर सम्बन्धी अस्वाध्याय होने पर स्वाध्याय करना नहीं कल्पता है, किन्तु (व्रणादि को विधिवत् आच्छादित कर) वाचना देना कल्पता है।

निर्ग्रन्थ्यै आर्चार्योपाध्यायपदार्हसाधोः विधानम्

सूत्र १९

तिवासपरियाए समणे निग्गंथे

तीसं वासपरियाए समणीए निग्गंथीए

कप्पइ उवज्झाएत्ताए उद्दिसित्तए।

निर्ग्रन्थी के लिए आचार्य और उपाध्याय पदयोग्य श्रमण का विधान

तीस वर्ष की श्रमण-पर्याय वाली निर्ग्रन्थिनी का उपाध्याय के रूप में तीन वर्ष के श्रमण पर्यायवाले निर्ग्रन्थ को स्वीकार करना कल्पता है।

सूत्र २०

पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे

सट्ठिवासपरियाए समणीए निग्गंथीए

कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

साठ वर्ष की श्रमण पर्याय वाली निर्ग्रन्थिनी को आचार्य या उपाध्याय के रूप में पाँच वर्ष के श्रमण पर्याय वाले निर्ग्रन्थ को स्वीकार करना कल्पता है।

विशेषार्थ—इन दोनों सूत्रों का अभिप्राय यह है कि—अधिक दीक्षापर्याय की साध्वियों के आचार्य या उपाध्याय यदि कालधर्म को प्राप्त हो जाएँ तो उन्हें विना आचार्य या उपाध्याय के रहना कदापि नहीं कल्पता है।

उपाध्याय पद के लिए कम से कम तीन वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाले श्रमण को तथा आचार्य या उपाध्याय पद के लिए कम से कम पाँच वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाले श्रमण को भी स्वीकार कर लेना उन्हें कल्पता हैं।

उन्हें यह नहीं सोचना चाहिए कि—"हम इतनी अधिक दीक्षा पर्याय वाली हैं या बहुश्रुता हैं। हमें अब किसी के अनुशासन में रहने की क्या आवश्यकता है या हमारे से अल्पदीक्षा-पर्याय वाले आचार्य या उपाध्याय के अनुशासन में हम क्यो रहें।

मृतभिक्षोर्देह-परिष्ठापन-विधानम्

सूत्र २१

गामाणुगामं दूइज्जमाणे भिक्खूय आहच्च वीसंभेज्जा,
तं च सरीरगं केइ साहम्मिए पासेज्जा,
कप्पइ से तं सरीरगं से 'मा[1] सागारियं' त्ति कट्टु[2]
तं सरीरगं एगंते अचित्ते बहुफासुए थंडिल्ले
पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेत्तए।
अत्थि य इत्थ केइ साहम्मिय संतिए उवगरणजाए परिहरणारिहे,
कप्पइ से सागारकडं गहाय दोच्चंपि ओग्गहं
अणुन्नवेत्ता परिहारं परिहारेत्तए।

मृतश्रमण के शरीर को (एकान्त में रख देने) परठने का विधान

ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ भिक्षु यदि (अकस्मात्) मृत्यु को प्राप्त हो जाए और उसे कुछ सार्धमिक श्रमण देखें तो वहाँ उस मृत श्रमण के शरीर का अन्तिम संस्कार गृहस्थों द्वारा न होने दें—किन्तु उस मृत श्रमण के शरीर को निर्जीव (जीव-जन्तुरहित एकान्त) भूमि मे प्रतिलेखन व प्रमार्जन करके परठ (रख) दें।

---

१ न।
२ कट्टु थंडिल्ले बहुफासुए पडि०।

यदि सार्धमिक साधु उस मृत श्रमण के उपकरण उपयोग में लेने योग्य देखे तो—"यह सोचकर लाए कि—इन उपकरणों का उपयोग आचार्य की आज्ञानुसार करना है।"

यदि आचार्य उपकरण लाने वाले श्रमण को ही सारे या एक दो उपकरण दें तो उसे आचार्य से दूसरी बार आज्ञा लेकर काम में लेना कल्पता है।

अथवा, आचार्य दूसरे को देने के लिए कहें तो दूसरे को दे दे या परठने के लिए कहें तो परठ दें।

विशेषार्थ—इस सूत्र में श्रमण-निर्ग्रन्थ के मृत शरीर की परिष्ठापन-विधि का अति संक्षिप्त कथन है और भाष्य में विस्तृतविधि का कथन है।

भाष्यकर ने लिखा है—"श्रमण का देहावसान ग्राम में या मार्ग में अर्थात् कहीं भी हो, श्रमण के मृत शरीर को श्रमण ही एकान्त में जीव-जन्तुरहित भूमि में विसर्जन करे।

वर्तमान में श्रमण के मृत शरीर का दाह-संस्कार जिस प्रकार गृहस्थ करते हैं—मूल और भाष्य दोनों में इसका निषेध है। क्योंकि दाह-संस्कार से संयम विराधना होती है—ऐसा स्पष्ट निर्देश है।

"……असंयतैर्नीयमानैर्षट्काय-विराधना श्मापना दहनं तस्य कलेवरस्य गृहस्थैः क्रियते ततस्तत्रापि षट्काय विराधना।"

जितने श्रमण एक साथ विचरते हैं उनकी संख्या के अनुसार श्रमण के मृत देह को कितने श्रमण उठावें, आगे चलने वाला हाथ में क्या लेकर चले। उपाश्रय में कितने श्रमण रहें। श्रमण के मृतदेह पर कैसा वस्त्र ओढ़ावे, श्रमण के मृत देह को कैसी भूमि में विसर्जन करे और उस भूमि की परीक्षा एवं प्रतिलेखन किस प्रकार करे। श्रमण के मृत शरीर का किस दिशा में विसर्जन करे और किस दिशा में न करे। श्मशान में विसर्जन करे पर श्मशान-पालक इन्कार करे तो उसे क्या दे। आगमोक्त विधि से विपरीत आचरण करने पर प्रायश्चित्त विधान, इत्यादि विधि-निषेध आज विस्मृति के गर्त में विलीन हो रहे हैं।

इस संबंध में बृहत्कल्प सूत्र उद्दे० ४, सूत्र २६ (पृ० १२५) का विशेषार्थ देखिये। विस्तृत जानकारी के लिए जिज्ञासुओं को बृहत्कल्प और व्यवहार के भाष्य का पारायण करना चाहिए।

शय्यातराद् वसत्यनुज्ञाविधानम्

सूत्र २२

सागारिए[1] उवस्सयं वक्कएणं पउंजेज्जा,

से य वक्कइयं वएज्जा—

"इमम्मि इमम्मि य ओवासे समणा निग्गंथा परिवसंति"

से सागारिए पारिहारिए।

से य नो वएज्जा, वक्कइए वएज्जा

से सागारिए पारिहारिए।

दो वि ते वएज्जा,

दो वि सागारिया पारिहारिया।

सागारिक (शय्यातर)

सागारिक (शय्यातर-उपाश्रयदाता) यदि उपाश्रय किराये पर दे और किराये पर लेने वाले को यह कहे कि—"इतने-इतने अवकाश (स्थान) में श्रमण निर्ग्रन्थ रह रहे हैं—"

(इस प्रकार कहने वाला गृहस्वामी) सागारिक है, अतः (वह) परिहार्य (उसके घर से आहारादि लेना नहीं कल्पता है) है।

यदि किराये पर देने वाला कुछ न कहे— किन्तु किराये पर लेने वाला कहे तो—वह सागारिक है, अतः परिहार्य है।

यदि किराये पर देने वाला और लेने वाला दोनों कहे तो दोनों सागारिक हैं, अतः दोनों परिहार्य हैं।

सूत्र २३

सागारिए उवस्सयं विक्किणेज्जा,

से य कइयं वएज्जा—

"इमम्मि य इमम्मि य ओवासे समणा निग्गंथा परिवसंति"

से सागारिए पारिहारिए।

से य नो वएज्जा, कइए वएज्जा

("इमम्मि जाव—परिवसंति")

से सागारिए पारिहारिए।

दो वि ते वएज्जा—

---

१ सारिए।

("इमम्मिजाव—परिवसंति")

दो वि सागारिया पारिहारिया।

सागारिक यदि उपाश्रय वेचे और खरीदने वाले को यह कहे कि—"इतने इतने अवकाश में श्रमण निर्ग्रन्थ रहते हैं।"

इस प्रकार कहने वाला उपाश्रय का विक्रेता सागारिक है, अत वह परिहार्य है।

यदि उपाश्रय का विक्रेता कुछ न कहे किन्तु खरीदने वाला कहे तो वह सांगारिक है, अतः परिहार्य है।

यदि विक्रेता और क्रेता दोनों कहें तो दोनों सागारिक है, अतः दोनों परिहार्य है।

सूत्र २४

विहवधूया नायकुलवासिणी,
सा वि यावि ओग्गहं अणुन्नवेयव्वा
किमंग पुण पिया वा भाया वा पुत्ते वा
से विया वि ओग्गहे ओगेण्हियव्वे।

ज्ञात कुलवासिनी (पिता या पितामह के घर पर जीवनयापन करने वाली) विधवा लड़की ही यदि उपाश्रय स्वामी के घर पर हो और अन्य कोई न हो तो उसकी आज्ञा लेकर श्रमण निर्ग्रन्थों को उपाश्रय में ठहर जाना चाहिए।

गृहस्वामी के पिता, भाई या पुत्र ही घर पर हों तो उनकी आज्ञा लेकर ठहरने में तो किसी प्रकार का दोष है ही नहीं—पर उनमें से किसी एक की आज्ञा लेकर ही श्रमण निर्ग्रन्थों को उपाश्रय में ठहरना चाहिए।

विशेषार्थ—ग्रामानुग्राम विहार करते हुए श्रमण-निर्ग्रन्थ यदि किसी बस्ती में जावें और वहाँ पर उपाश्रय का स्वामी न हो तथा उसके पिता, भाई व पुत्र आदि भी न हों किन्तु उसकी विधवा पुत्री (जो विधवा होने के बाद वहीं स्थायी रह रही) हों तो उसकी आज्ञा लेकर भी श्रमण-निर्ग्रन्थ उपाश्रय में ठहर सकते हैं।

यदि उपाश्रय का स्वामी उस समय वहाँ न हो और उसके पिता, भाई या पुत्र आदि ही वहाँ हों तो उनमें के किसी एक की आज्ञा लेकर श्रमण-निर्ग्रन्थ उपाश्रय में ठहर सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि उपाश्रय में ठहरने के लिए उपाश्रय के स्वामी की आज्ञा लेना अनिवार्य नहीं है। उसके निकट सम्बन्धियों की आज्ञा से भी ठहर सकते हैं पर उपाश्रय का स्वामी व उसके सभी निकट सम्बन्धी सागारिक हैं।

सूत्र २५

पहे[1] वि ओग्गहो अणुन्नवेयव्वो ।

पथ में (वृक्ष पर्णकुटी या लयन आदि हों और विहार करते हुए यदि वहां) ठहरना पड़े तो (वहां विद्यमान व्यक्ति का या विश्राम के लिए ठहरे हुए अनेक व्यक्तियो में से किसी एक व्यक्ति की) आज्ञा लेकर ही श्रमण-निर्ग्रन्थों को ठहरना चाहिए। (किन्तु आज्ञा लिए विना नहीं ठहरना चाहिए।)

विशेषार्थ—पथ में जिसकी आज्ञा लेकर श्रमण-निर्ग्रन्थ ठहरते हैं वहां वही एक व्यक्ति सागारिक हैं। अन्य नहीं।

राज्यपरावर्तेऽवग्रहानुज्ञापन-विधानम्

सूत्र २६

से रज्जपरियट्टेसु संथडेसु अव्वोगडेसु
अव्वोच्छिन्नेसु अपर परिग्गहिएसु
सच्चे व ओग्गहस्स पुव्वाणुन्नवणा चिट्ठइ
अहालंदमवि ओग्गहे ।

राजा की मृत्यु के वाद जब तक नये राजा का अभिषेक हो राज्य अविभक्त एवं शत्रुओं द्वारा अनाक्रान्त रहे। राजवंश अविच्छिन्न रहे और राज्यव्यवस्था पूर्ववत् रहे तब तक साधु-साध्वियों के लिए पूर्वगृहीत आज्ञा ही अवस्थित रहती है।

सूत्र २७

से रज्जपरियट्टेसु असंथडेसु, वोगडेसु वोच्छिन्नेसु परपरिग्गहिसु
भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चंपि ओग्गहे अणुन्नवेयव्वे सिया ।

राजा की मृत्यु के वाद राज्य विभक्त हो जाय या शत्रुओं द्वारा आक्रान्त हो जाए। राजवंश विछिन्न हो जाए या राज्य व्यवस्था पूर्ववत् न रहे तो साधु-साध्वियों को भिक्षुभाव की रक्षा के लिए दूसरी वार आज्ञा लेनी चाहिए। मैं ऐसा कहता हूं।

॥ सत्तमो उद्देसओ समत्तो ॥
सप्तम उद्देशक समाप्त

---

1 पहिए, वहिए।

अट्ठमो उद्देसओ

अष्टम उद्देशक

शय्या-संस्तारक-ग्रहणविधानम्

सूत्र १

गाहा उडू पज्जोसविए।

ताए गाहाए ताए पएसाए, ताए उवसंतराए

"जमिणं सेज्जासंथारगं लभेज्जा, तमिणं तमिणं ममेव सिया।"

थेरा य से अणुजाणेज्जा, तस्सेव सिया।

थेरा य से नो अणुजाणेज्जा नो तस्सेव सिया।

एवं से कप्पइ अहाराइणियाए सेज्जासंथारगं पडिग्गाहेत्तए।

शय्या—संस्तारक ग्रहण-विधि

ऋतुबद्ध (हेमन्त या ग्रीष्म) काल या वर्षाकाल में ठहरने के लिए किसी एक घर का निरीक्षण करते हुए निर्ग्रन्थ मन में यह संकल्प करें कि "इस घर के अमुक प्रदेश में या अमुक अवकाशान्तर में मेरा शय्या-संस्तारक होगा" किन्तु स्थविर यदि उस स्थान के लिए आज्ञा दें तो वहाँ शय्या संस्तारक करना कल्पता है। यदि स्थविर आज्ञा न दें वहां शय्या संस्तारक करना नहीं कल्पता है।

इस प्रकार यथारात्निक (दीक्षापर्याय से ज्येष्ठ-कनिष्ठ) क्रम से शय्या-संस्तारक ग्रहण करना कल्पता है।

विशेषार्थ—हेमन्त, ग्रीष्म या वर्षा ऋतु में आचार्य या स्थविर जिस स्थान पर ठहरना चाहें, उस स्थान का निरीक्षण करने के लिए किसी निर्ग्रन्थ को भेजें। वह वहाँ निरीक्षण करता हुआ अपने अनुकूल स्थान में शय्या-संस्तारक करने का संकल्प करले और आचार्य से कहे कि—"मैं अमुक जगह शय्या-संस्तारक करना चाहता हूं।"

आचार्य उसकी बात सुनकर यह देखे कि—"इस श्रमण के श्लेष्म आदि शारीरिक कारण है अतः इसका यहाँ पर शय्या-संस्तारक करना उचित है।

यदि आचार्य को किसी प्रकार का शारीरिक कारण दिखाई न दे और यह आशङ्का हो कि—"यहाँ शय्या-संस्तारक करके यह परिग्रघातक प्रवृत्ति कर सकता है।"

तो आचार्य उसे वहाँ शय्या संस्तारक करने की आज्ञा न दे। और उसे यथारात्निक (दीक्षापर्याय के अनुसार ज्येष्ठ का पहले और कनिष्ठ का बाद में) क्रम से शय्या-संस्तारक करने की आज्ञा दे।

सूत्र २

से य अहालहुसगं सेज्जासंथारगं गवेसेज्जा
जं चक्किया एगेणं हत्थेणं ओगिज्झ जाव
एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा अद्धाणं परिवहित्तए,
एस मे हेमंत-गिम्हासु भविस्सइ।

श्रमण यथासम्भव हल्के शय्या-संस्तारक का अन्वेषण करे। वह इतना हल्का हो कि उसे एक हाथ से उठाकर एक दो यावत् तीन दिन तक मार्ग में ले जा सके। (इतनी दूर से लाने का प्रयोजन यह है कि) यह शय्या-संस्तारक मेरे हेमन्त या ग्रीष्म ऋतु में काम आएगा।

सूत्र ३

से य अहालहुसगं सेज्जासंथारगं गवेसेज्जा—
जं चक्किया एगेणं हत्थेणं ओगिज्झ जाव
एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा अद्धाणं परिवहित्तए,
एस मे वासावासासु भविस्सइ।

श्रमण यथासम्भव हल्के शय्या-संस्तारक का अन्वेषण करे। वह इतना हल्का हो कि उसे एक हाथ से उठाकर एक दो यावत् तीन दिन तक मार्ग में ले जा सके। (इतनी दूर से लाने का प्रयोजन यह है कि) यह शय्या संस्तारक मेरे वर्षावास में काम आएगा।

सूत्र ४

से अहालहुसगं सेज्जा संथारगं जाएज्जा—
जं चक्किया एगेण हत्थेणं ओगिज्झ जाव
एगाहं वा, दुयाहं वा तियाहं वा, चउयाहं वा
पंचाहं वा दूरमवि अद्धाणं परिवहित्तए,
एस मे वुड्ढावासासु भविस्सइ।

श्रमण यथासम्भव हलके शय्या-संस्तारक की याचना करे। वह इतना हलका हो कि उसे एक हाथ से उठाकर एक दो तीन चार यावत् पाँच दिन में पहुँचे—इतने दूर मार्ग में भी ले जा सके। (इतनी दूर से लाने का प्रयोजन यह हो कि) यह शय्या-संस्तारक मेरे वृद्धावास में काम आएगा।

विशेषार्थ—श्रमण निर्ग्रन्थ को हेमन्त, ग्रीष्म या वर्षावास में तथा वृद्धावास में उपभोग के लिए जब संस्तारक की आवश्यकता हो तब इतने हलके शय्या-संस्तारक की एषणा करे जिसे वह वीणा के समान एक हाथ से उठाकर यथेष्ट स्थान पर ले जावे।

उपाश्रय में शय्या-संस्तारक उपलब्ध हो तो अन्य स्थान से न लावे। यदि उपाश्रय में न मिले तो गाँव में जिसके यहाँ उपलब्ध हो वहाँ से एषणा कर के लावे। यदि गाँव में भी न मिले तो जघन्य एक दिन, मध्यम दो दिन और उत्कृष्ट तीन दिन में पहुँच सके इतने दूर क्षेत्र (गाँव) से भी शय्या संस्तारक की एषणा करके लावे।

वृद्ध श्रमणों के उपभोग योग्य शय्या-संस्तारक उपाश्रय या गाँव में न मिले तो जघन्य एक दिन, मध्यम दो तीन या चार दिन और उत्कृष्ट पाँच दिन में पहुँच सके इतने दूर क्षेत्र (गाँव) से भी एषणा करके शय्या-संस्तारक लावे।

हेमन्त या ग्रीष्म ऋतु में यदि कोई श्रमण निर्ग्रन्थ अस्वस्थ हो या किसी ने भक्तप्रत्याख्यान किया हो, कहीं भूमि ऊबड़खाबड़ हो या या नमी वाली हो, कहीं पनक या कीचड़ हो, कहीं उपकरण सील से सड़ जाते हों, कहीं कुन्थुवे आदि जीवों की प्रचुरता हो तो वहाँ शय्या-संस्तारक का उपयोग करना आवश्यक है किन्तु अकारण शय्या-सँस्तारक की एषणा व उपयोग करने पर वह प्रायश्चित का पात्र होता है।

वर्षावास या वृद्धावास में उपयोग के लिए पूर्वोक्त कारण न होने पर भी शय्या-संस्तारक की एषणा करना अत्यावश्यक है किन्तु शय्या-संस्तारक न लेने पर वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

शय्या-संस्तारक तृणमय, उर्णमय यह पट्टमय या फलक का बना हुआ लेना चाहिए किन्तु ढिला, सड़ा गला हिलने वाला नहीं लेना चाहिए।

यथासम्भव एक फलक का बना हुआ शय्या-संस्तारक लेना चाहिए। न मिलने पर दो तीन या चार फलक का बना हुआ भी लिया जा सकता है।

शय्या संस्तारक की आवश्यकता न रहने पर उसके स्वामी को या स्वामी के कहे अनुसार लौटा देना चाहिए।

स्थापित-स्थविरोपकरणानां पुनरप्यनुज्ञा विधानम्

सूत्र ५

थेराणं थेरभूमिपत्ताणं कप्पइ

दण्डए वा भण्डए वा छत्तए वा मत्तए वा

लट्ठिया वा भिसे वा चेलेवा चेलचिलिमिलिं वा चम्मेवा, चम्मकोसे वा चम्मपलिच्छेयणए वा।

अविरहिए. ओवासे ठवेत्ता गाहावइकुलं

पिण्डवायपडियाए पविसित्तए वा निक्खमित्तए वा।

कप्पइ णं सन्नियट्टचारीणं दोच्चंपि उग्गहं अणुन्नवेत्ता परिहरित्तए।

एकाकी स्थविर के भण्डोपकरण और उनके
आदान-निक्षेपण की विधि

स्थविरत्व प्राप्त (एकाकी) स्थविर को, दण्ड, भाण्ड, छत्र, मात्रक, लष्टिका, भिस-पीठफलक, वस्त्र, चर्मवस्त्र-यवनिका चर्मकोप और चर्मपरिच्छेदनक अविरहित (जिस घर में एक न एक सदा विद्यमान रहे ऐसे) अवकाश (स्थान) में रखकर घरों में आहार के लिए जाना आना कल्पता है।

भिक्षाचर्या से निवृत्त होने पर (पूर्वोक्त स्थान में रखे हुए) दण्डादि को (जिसकी देख-रेख में दण्डादि रखे गए उससे) दूसरी बार आज्ञा लेकर ग्रहण करना कल्पता है।

प्रातिहारिक-शय्यादीनां बहिर्नयने पुनरप्यनुज्ञा-विधानम्—

सूत्र ६

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा

पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं

दोच्चंपि ओग्गहं अणणुन्नवेत्ता बहिया नीहरित्तए।

शय्या-संस्तारक

वसतिदाता से (या अन्य किसी से) प्राप्त प्रातिहारिक शय्या-संस्तारक को दूसरी बार आज्ञा लिए विना निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को बस्ती के बाहर ले जाना नहीं कल्पता है।

सूत्र ७

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा

पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं

दोच्चंपि ओग्गहं अणुन्नवेत्ता बहिया नीहरित्तए।

वस्ती दाता से (या अन्य किसी से) प्राप्त प्रातिहारिक शय्या-संस्तारक की दूसरी बार आज्ञा लेकर निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को वसति से बाहर ले जाना कल्पता है।

सूत्र ८

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं
सव्वप्पणा अप्पिणित्ता दोच्चंपि ओग्गहं
अणणुन्नवेत्ता अहिट्ठित्तए।

वसतिदाता से (या अन्य किसी से) प्राप्त प्रातिहारिक शय्या-संस्तारक (उसके स्वामी) को सर्वथा सौंप देने के बाद दूसरी बार आज्ञा लिए बिना निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को काम में लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र ९

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं
सव्वप्पणा अप्पिणित्ता दोच्चं पि ओगाहं अणुन्नवेत्ता अहिट्ठित्तए॥

प्रातिहारिक शय्या-संस्तारक वसतिदाता (या जिससे प्राप्त हो उस) को सर्वथा सौंप देने के बाद दूसरी बार आज्ञा लेकर ही निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को काम में लेना कल्पता है।

सूत्र १०

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
पुव्वामेव ओग्गहं ओगिण्हित्ता तओ पच्छा अणुन्नवेत्तए।

निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियों को पहले शय्या-संस्तारक ग्रहण करना और बाद में उनकी आज्ञा लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र ११

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
पुव्वामेव ओग्गहं अणुन्नवेत्ता तओ पच्छा ओगिण्हित्तए।

निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियों को पहले आज्ञा लेना और बाद में शय्या-संस्तारक ग्रहण करना कल्पता है।

अननुगृहीत-शय्यादिग्रहणे विसंवाद-शमन-विधानम्

सुत्र १२

अह पुण एवं जाणेज्जा—

'इह खलु निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा
नो सुलभे[1] पाडिहारिए सेज्जासथारए त्ति कट्टु
एवं णं कप्पइ पुव्वामेव ओग्गहं ओगिण्हित्ता
तओ पच्छा अणुन्नवेत्तए ।
"मा[2] वहउ अज्जो ! विइयं" अणुलोमेणं अणुलोमेयव्वे सिया ।

निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियों को यदि यह आशङ्का हो कि—"यहां प्रातिहारिक शय्या-संस्तारक सुलभ नहीं है तो पहले स्थान या शय्या-संस्तारक ग्रहण करना और बाद में आज्ञा लेना कल्पता है किन्तु ऐसा करने पर यदि संयतों के और शय्या-संस्तारक के स्वामी के मध्य किसी प्रकार का कलह हो जाए तो आचार्य उन्हें इस प्रकार कहे—"हे आर्यो ! एक ओर तो तुमने इनकी वसति ग्रहण की है दूसरी ओर इनसे कठोर बोल रहे हो ।" इस प्रकार तुम्हें इनके साथ दुहरा व्यवहार नहीं करना चाहिए ।

इस प्रकार आचार्य को अनुकूल वचनों से उसे (वसति के स्वामी को) अनुकूल करना चाहिए ।

पतितोपकरण-ग्रहण विधानम्

सूत्र १३

निग्गंथस्स णं गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए
अणुपविट्ठस्स अहालहुसए उवगरणजाए
परिब्भट्ठेसिया,
तं च केइ साहम्मिए पासेज्जा,
कप्पइ से सागारकडं गहाय जत्थेव अन्नमन्नं पासेज्जा
तत्थेव एवं वएज्जा—
इमे भे अज्जो ! किं परिन्नाए से य वएज्जा
तस्सेव पडिणिज्झाएयव्वे सिया ।
से य वएज्जा—"नो परिन्नाए"
तं नो अप्पणा परिभुंजेज्जा,
नो अन्नमन्नस्स दावए
एगंते बहुफासुए थण्डिले[3] परिट्ठवेयव्वे सिया ।

---

१ क्वचिदिदं पदं नास्ति ।
२ मा दुहओ अज्जो ! वत्तियं अणु० ।
३ पदेसे पडिलेहित्ता परि० ।

पतित या विस्मृत उपकरण

निर्ग्रन्थ घरों में आहार के लिए प्रवेश करे और कहीं पर उसका उपकरण गिर जाए—

इस उपकरण को यदि कोई सार्धमिक श्रमण देखे तो—"जिसका यह उपकरण है उसे दे दूंगा" इस भावना से यह उस उपकरण को लेकर जाए और जहाँ किसी श्रमण को देखे वहाँ इस प्रकार कहे—

हे आर्य ! इस उपकरण को पहचानते हो ?

वह कहे—"हाँ पहचानता हूं" (ऐसा कहे) तो उस उपकरण को उसे दे दे।

यदि वह कहे—"मैं नहीं पहचानता हूं।" (ऐसा कहे) तो—उस उपकरण का न स्वयं उपभोग करे और न अन्य किसी को दे किन्तु एकान्त प्रासुक (निर्जीव) भूमि पर उस उपकरण को छोड़ दे।

सूत्र १४

निग्गंथस्स णं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा
निक्खन्तस्स अहालहुसए उवगरणजाए परिब्भट्ठे सिया,
तं च केइ साहम्मिए पासेज्जा,
कप्पइ से सागारकडं गहाय जत्थेव अन्नमन्नं पासेज्जा
तत्थेव एवं वएज्जा—
"इमे भे अज्जो ! किं परिन्नाए ?"
से य वएज्जा—'परिन्नाए'
तस्सेव पडिणिज्जाएयव्वे सिया।
से य वएज्जा—'नो परिन्नाए'
तं नो अप्पणा परिभुंजेज्जा,
नो अन्नमन्नस्स दावए
एगंते बहुफासुए[1] थण्डिले परिट्ठवेयव्वे सिया।

स्वाध्याय भूमि से या उच्चार-प्रश्रवण भूमि से निकलते हुए निर्ग्रन्थ का कोई लघु उपकरण गिर जाए—

उस उपकरण को यदि कोई सार्धमिक श्रमण देखे तो—"जिसका यह उपकरण है उसे दे दूंगा" इस भावना से वह उस उपकरण को लेकर जाए और जहाँ किसी श्रमण को देखे वहाँ इस प्रकार कहे—

हे आर्य ! इस उपकरण को पहचानते हो ?

---

१ पदेसे पडिलेहित्ता परि०।

वह कहे—"हाँ पहचानता हूँ—"(ऐसा कहे) तो उस उपकरण को उसे दे दे।

यदि वह कहे "मैं नहीं पहचानता हूँ"—(ऐसा कहे) तो उस उपकरण का न स्वयं उपभोग करे और न अन्य किसी को दे किन्तु एकान्त प्रासुक भूमि पर उस उपकरण को छोड़ दे।

सूत्र १५

निग्गंथस्स णं गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स
अन्नयरे उवगरणजाए परिब्भट्ठे सिया,
तं च केई साहम्मिए पासेज्जा,
कप्पइ से सागारकडं गहाय दूरमवि[1] अद्धाणं परिवहित्तए
जत्थेव अन्नमन्नं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—
"इमे भे अज्जो ! किं परिन्नाए ?"
से य वएज्जा—"परिण्णाए"
तस्सेव पडिणिज्जाएयव्वे सिया।
से य वएज्जा—"नो परिन्नाए"
तं नो अप्पणा परिभुंजेज्जा,
नो अन्नमन्नस्स दावए,
एगंते बहुफासुए थण्डिले परिट्ठवेयव्वे सिया।

ग्रामानुग्राम विहार करते हुए निर्ग्रन्थ का यदि कोई उपकरण गिर जाए—

उस उपकरण को यदि कोई सार्धमिक श्रमण देखे तो—जिसका यह उपकरण है उसे दे दूँगा—इस भावना से वह उस उपकरण को लेकर जाए और जहाँ किसी श्रमण को देखे वहाँ इस प्रकार कहे—"हे आर्य ! इस उपकरण को पहचानते हो ?"

वह कहे—"हाँ पहचानता हूँ"—ऐसा कहे तो—उस उपकरण को उसे दे दे।

यदि वह कहे—"मैं नहीं पहचानता हूँ"—(ऐसा कहे) तो—उस उपकरण का न स्वयं उपभोग करे और न अन्य किसी को दे किन्तु एकान्त प्रासुक भूमि पर उस उपकरण को छोड़ दे।

---

१ दूरमेवयद्धाणं।

प्रमाणातिरिक्त पात्रादि वहन-तद्दान-विधानम्

सूत्र १६

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
अइरेगपडिग्गहं अन्नमन्नस्स अट्ठाए दूरमवि अद्धाणं परिवहित्तए,
"सो वा णं धारेस्सइ, अहं वा णं धारेस्सामि, अन्ने वा णं धारेस्सइ"।
नो से कप्पइ ते अणापुच्छिय, अणामंतिय
अन्नमन्नेसिं दाउं वा अणुप्पदाउं वा।
कप्पइ से ते आपुच्छिय आमंतिय अन्नमन्नेसिं दाउं वा अणुप्पदाउं वा।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को एक-दूसरे के लिए अधिक पात्र बहुत दूर ले जाना कल्पता है।

(अधिक पात्र लेते समय पात्र-दाता के सामने तीन विकल्प रखने चाहिए।)

१ जिसके लिए यह पात्र ले रहा हूँ यदि वह ले लेगा तो उसे दे दूंगा।

२ अथवा वह न लेगा तो मैं ले लूंगा।

३ अथवा अन्य किसी को आवश्यकता होगी तो उसे दे दूंगा।

जिसके निमित्त पात्र लिया है उसे लेने के लिए आग्रह किए बिना या पूछे बिना दूसरे को देना या लेना नहीं कल्पता है।

अवमौदर्याहार-प्रमाण-विधानम्

सूत्र १७

अट्ठ कुक्कुडि-अण्डगप्पमाणमेत्ते कवले-
आहारं आहारेमाणे निग्गन्थे[1] अप्पाहारे।
बारस कुक्कुडि-अण्डगप्पमाणमेत्ते कवले-
आहारं आहारेमाणे निग्गन्थे अवड्ढोमोयरिए।
सोलस कुक्कुडि-अण्डगप्पमाणमेत्ते कवले-
आहारं आहारेमाणे निग्गन्थे दुभागपत्ते ओमोयरिए।
चउवीसं कुक्कुडि-अण्डगप्पमाणमेत्ते कवले-
आहारं आहारेमाणे निग्गन्थे तिभागपत्ते[2] सिया ओमोयरिए।
एगतीसं[3] कुक्कुडि-अण्डगप्पमाणमेत्ते कवले-

---

१ समणे निग्गथे।

२ पत्तोमोयरिया तिभागपत्तं सिया ओमोयरिया।

३ "एगतीसं······जाव किंचूणोमोयरिया" इति नास्ति क्वचित्।

आहारं आहारेमाणे निग्गन्थे किंचूणोमोयरिए।

बत्तीसं कुक्कुडि अण्डगप्पमाणमेत्ते कवले-

आहारं आहारेमाणे निग्गन्थे पमाणपत्ते।

एत्तो एगेण वि कवलेणं ऊणगं आहारं आहारेमाणे समणे निग्गन्थे "नो पकामभोइ[1]" त्ति वत्तव्वं सिया।

त्ति बेमि।

अवमौदर्य और आहार का प्रमाण

१ कुक्कुड़ी के अण्ड प्रमाण वाले आठ कवलों का आहार करने वाला निर्ग्रन्थ अल्पाहारी है।

२ कुक्कुड़ी के अण्ड प्रमाण वाले बारह कवलों का आहार करने वाला निर्ग्रन्थ अपार्ध अवमौदर्य वाला है।

३ कुक्कुड़ी के अण्ड प्रमाण वाले सोलह कवलों का आहार करने वाला निर्ग्रन्थ द्विभाग अवमौदर्य करने वाला है।

४ कुक्कुड़ी के अण्ड प्रमाण वाले चौवीस कवलों का आहार करने वाला निर्ग्रन्थ तीन भाग अवमौदर्य करने वाला है।

५ कुक्कुड़ी के अण्ड प्रमाण वाले इकत्तीस कवलों का आहार करने वाला निर्ग्रन्थ किंचित् न्यून अवमौदर्य करने वाला है।

६ कुक्कुड़ी के अण्ड प्रमाण वाले बत्तीस कवलों का आहार करने वाला निर्ग्रन्थ प्रमाण प्राप्त (पूर्ण) आहार करने वाला है।

अभिप्राय यह है कि एक कवल न्यून आहार करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ भी प्रकामभोजी नहीं है—ऐसा कहना चाहिए।

ऐसा मैं कहता हूं।

अष्टम उद्देशक समाप्त

। अट्ठमो उद्देसओ समत्तो।

---

१ "नो पकामरसभोइ"।

नवमो उद्देसओ

नवम उद्देशक

सागारिक-प्राघूर्णकादेराहारग्रहणाग्रहण-विधानम्—

सूत्र १

सागारियस्स[1] आएसे अन्तो वगडाए भुंजइ
निट्ठिए निसट्ठे पाडिहारिए,
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिगाहेत्तए।

सागारिक और उसके यहाँ के कल्प्य-अकल्प्य आहारादि आदेश (आगन्तुक अतिथि) विषयक चार सूत्र—

सागारिक (जो ठहरने के लिए उपाश्रय दे) के यहाँ आया हुआ स्वजन, मित्र, स्वामी, पाहुणा या परतीर्थिक—जिसके लिए विशिष्ट भोजन बना है। यदि वह उसके घर में जीमता है और जीमने के बाद शेष बचा हुआ आहार (जो) प्रातिहारिक (जिसका वापिस लौटाना निश्चित) है, किन्तु वह (आगन्तुक अतिथि) उस अवशिष्ट आहार को निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिये दे तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र २

सागारियस्स आएसे अंतो वगडाए भुंजइ
निट्ठिए निसट्ठे अपाडिहारिए
तम्हा दावए,
एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

सागारिक के यहाँ आया हुआ स्वजन आदि—जिसके लिए विशिष्ट भोजन बना है। यदि वह उसके घर में जीमता है और जीमने के बाद शेष बचा हुआ आहार (जो) अप्रातिहारिक (जिसे वापस लौटाना नहीं) है। यदि

---

१ "सारियस्स" एवं क्वचित्।

वह (आगन्तुक स्वजन आदि) उस अवशिष्ट आहार को निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए दे तो उन्हें लेना कल्पता है।

सूत्र ३

सागारियस्स आएसे बाहिं वगडाए भुंजइ
निट्ठिए निसट्ठे पाडिहारिए
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

सागारिक के यहाँ आया हुआ स्वजनादि—जिसके लिए विशिष्ट भोजन बना है। यदि वह उसके घर के बाहर जीमता है और जीमने के बाद शेष बचा हुआ आहार (जो) प्रातिहारिक है किन्तु वह (आगन्तुक स्वजनादि) उस अवशिष्ट आहार को निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए दे तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र ४

सागारियस्स आएसे बाहिं वगडाए भुंजइ
निट्ठिए निसट्ठे अपाडिहारिए
तम्हा दावए,
एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

सागारिक के यहाँ आया हुआ स्वजनादि—जिसके लिये विशिष्ट भोजन बना है। यदि वह उसके घर के बाहर जीमता है और जीमने के बाद शेष बचा हुआ आहार (जो) अप्रातिहारिक है। यदि वह उस अवशिष्ट आहार को निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिये दे तो उन्हें लेना कल्पता है।

सागारिक-दासादेराहारग्रहणाग्रहण-विधानम्

सूत्र ५

सागारियस्स दासे[1] वा, पेसे वा, भयए वा, भइन्नए वा
अंतो वगडाए भुंजइ
निट्ठिए निसट्ठे पाडिहारिए,
तम्हा दावए
नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

---

१ दासे इ वा, पेसे इ वा।

सागारिक के दास आदि से आहार ग्रहण करना या नहीं इस विषय के चार सूत्र

सागारिक का दास, प्रेष्य (सन्देशवाहक) भृतक और भागीदार—जिसके लिये सागारिक के घर पर आहार बना है। यदि वह उसके घर में जीमता है और जीमने के बाद शेष बचा हुआ आहार (जो) प्रातिहारिक है यदि वह उस अवशिष्ट आहार को निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए दे तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र ६

सागारियस्स दासे वा, पेसे वा, भयए वा, भइन्नए वा
अंतो वगडाए भुंजइ
निट्ठिए निसट्ठे अपाडिहारिए,
तम्हा दावए,
एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

सागारिक का दास, प्रेष्य, भृतक और भागीदार—जिसके लिए सागारिक के घर पर आहार बना है। यदि वह उसके घर में जीमता है और जीमने के बाद शेष बचा हुआ आहार (जो) अप्रातिहारिक है यदि वह उस अवशिष्ट आहार को निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिये दे तो उन्हें लेना कल्पता है।

सूत्र ७

सागारियस्स दासे वा, पेसे वा, भयए वा भइन्नए वा
बाहिं वगडाए भुंजइ,
निट्ठिए निसट्ठे पाडिहारिए,
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

सागारिक का दास, प्रेष्य, भृतक और भागिदार—जिसके लिये सागारिक के घर पर आहार बना है। यदि वह उसके घर के बाहर जीमता है और जीमने के बाद शेष बचा हुआ आहार (जो) प्रातिहारिक है। यदि वह उस अवशिष्ट आहार को निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिये दे तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र ८

सागारियस्स दासे वा, पेसे वा, भयए वा, भइन्नए वा

बाहिं वगडाए भुंजइ
निट्ठिए निसट्ठे अपाडिहारिए
तम्हा दावए,
एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

सागारिक का दास, प्रेष्य, भृतक और भागीदार—जिसके लिये सागारिक के घर पर आहार बना है । यदि वह उसके घर के बाहर जीमता है और जीमने के बाद शेष बचा हुआ आहार जो अप्रातिहारिक है । यदि वह उस अवशिष्ट आहार को निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिये दे तो उन्हें लेना कल्पता है ।

सागारिक-ज्ञातकाहार-ग्रहणाग्रहण-विधानम्

सूत्र ९

सागारियस्स नायए सिया सागारियस्स एगवगडाए
अंतो एगपयाए सागारियं चोवजीवइ,
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

सागारिक के स्वजनों से आहार ग्रहण करना या नहीं इस विषय के ६ सूत्र.

सागारिक का स्वजन यदि सागारिक के घर में सागारिक के ही चूल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से निष्पन्न आहार कर जीवन निर्वाह करता है । यदि उस आहार में से वह कुछ आहार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है ।

सूत्र १०

सागारिय-णायए सिया सागारियस्स एगवगडाए
अंतो सागारियस्स अभिनिपयाए सागारियं चोवजीवइ,
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

सागारिक का स्वजन यदि सागारिक के घर में ही सागारिक के चूल्हे से भिन्न चूल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से निष्पन्न आहार कर जीवन निर्वाह करता है । यदि उस आहार में से वह कुछ आहार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है ।

सूत्र ११

सागारिय-णायए सिया सागारियस्स एगवगडाए
बाहिं सागारियस्स एगपयाए सागारियं चोवजीवइ,
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

सागारिक का स्वजन यदि सागारिक के घर के बाहर सागारिक के ही चुल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से निष्पन्न आहार से जीवन निर्वाह करता है यदि उस आहार में से वह कुछ आहार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है ।

सूत्र १२

सागारिय-णायए सिया सागारियस्स एगवगडाए
बाहिं सागारियस्स अभिनिपयाए सागारियं चोवजीवइ,
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

सागारिक का स्वजन यदि सागारिक के घर के बाहर सागारिक के चुल्हे से भिन्न चुल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से निष्पन्न आहार से जीवन निर्वाह करता है । यदि उस आहार में से वह कुछ आहार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है ।

सूत्र १३

सागारिय-णायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए
एगदुवाराए एगनिक्खमण-पवेसाए
अंतो सागारियस्स एगपयाए सागारियं चोवजीवइ,
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

सागारिक का स्वजन यदि सागारिक गृह से भिन्न एक निष्क्रमण-प्रवेश-द्वार वाले गृह में सागारिक के ही चुल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से निष्पन्न आहार से जीवन निर्वाह करता है । यदि उस आहार में से वह कुछ आहार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है ।

सूत्र १४

सागारिय-णायए सिया सागारियस्स

अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमण-पवेसाए
अंतो सागारियस्स अभिनिपयाए सागारियं चोवजीवइ,
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

सागारिक का स्वजन यदि सागारिक के घर से भिन्न एक निष्क्रमण-प्रवेश द्वार वाले गृह में सागारिक के चुल्हे से भिन्न चुल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से निष्पन्न आहार से जीवन निर्वाह करता है। यदि उस आहार में से वह कुछ आहार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र १५

सागारिय-णायए सिया सागारियस्स
अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमण-पवेसाए
बाहिं सागारियस्स एगपयाए सागारियं चोवजीवइ,
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

सागारिक का स्वजन यदि सागारिक के गृह से भिन्न एक निष्क्रमण-प्रवेश द्वारवाले गृहसे बाहर सागारिक के चुल्हे पर सागारिककी ही सामग्री से निष्पन्न आहार कर जीवन निर्वाह करता है। यदि उस आहार में से वह कुछ आहार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र १६

सागारिय-णायए सिया सागारियस्स
अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमण-पवेसाए,
बाहिं सागारियस्स अभिनिपयाए सागारियं चोवजीवइ,
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

सागारिक का स्वजन यदि सागारिक के गृह से भिन्न एक निष्क्रमण-प्रवेश द्वार वाले गृह से बाहर सागारिक के चुल्हे से भिन्न चुल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से निष्पन्न आहार से जीवन निर्वाह करता है। यदि उस आहार में से वह कुछ आहार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

चक्रिकाशालादिगत-वस्तु-ग्रहणाग्रहण-विधानम्

सूत्र १७

सागारियस्स चक्कियासाला साहारण वक्कयपउत्ता,

तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

सागारिक के सीर वाली चक्रिकाशाला (तेल की दुकान) में से सागारिक का साझीदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को तेल देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है ।

सूत्र १८

सागारियस्स चक्कियासाला निस्साहारण-वक्कय-पउत्ता,
तम्हा दावए,
एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

सागारिक की चक्रिकाशाला (तेल की दूकान) किसी को किराये पर दी गई हो और वह किरायेदार उस दुकान में से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को तेल देता है तो उन्हें तेल लेना कल्पता है ।

सूत्र १९

सागारियस्स गोलियसाला साहारण वक्कयपउत्ता,
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

सागारिक की सीर वाली गुड़ की दुकान में से सागारिक का साझीदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को गुड़ देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है ।

सूत्र २०

सागारियस्स गोलियसाला निस्साहारण वक्कयपउत्ता
तम्हा दावए
एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

सागारिक की गुड़ की दुकान किसी को किराये पर दी गई हो और वह किरायेदार उस दुकान में से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को गुड़ देता है तो उन्हें लेना कल्पता है ।

सूत्र २१

सागारियस्स वोधियसाला साहारण वक्कयपउत्ता
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

सागारिक की सीर वाली वोधियशाला (किराणे की दुकान) में से सागारिक का साझीदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को किराणे की वस्तु देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र २२

सागारियस्स वोधियसाला निस्साहारण वक्कयपउत्ता,
तम्हा दावए,
एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

सागारिक की वोधियशाला किसी को किराये पर दी गई हो और वह किरायेदार उस दुकान में से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को किराणे की वस्तु देता है तो उन्हें लेना कल्पता है।

सूत्र २३

सागारियस्स दोसियसाला साहारण वक्कयपउत्ता,
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

सागारिक की सीरवाली दोसियशाला (कपड़े की दुकान) में से सागारिक का साझीदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को वस्त्र देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र २४

सागारियस्स दोसियसाला निस्साहारण वक्कयपउत्ता,
तम्हा दावए,
एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

सागारिक ने दोसियशाला किसी को किराये पर दी हो और वह किरायेदार उस दुकान में से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को वस्त्र देता है तो उन्हें लेना कल्पता है।

सूत्र २५

सागारियस्स सोत्तयसाला साहारण वक्कयपउत्ता,
तम्हा दावए,
नो कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

सागारिक के सीर वाली सूत की दुकान में से सागारिक का साझीदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को सूत देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र २६

सागारियस्स सोत्तियसाला निस्साहारण वक्कयपउत्ता,

तम्हा दावए,

एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

सागारिक ने सूत की दुकान किसी को किराये पर दी हों और वह किरायेदार उस दुकान में से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को सूत देता है तो उन्हें लेना कल्पता है।

सूत्र २७

सागारियस्स बोंडियसाला साहारण वक्कयपउत्ता,

तम्हा दावए,

नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

सागारिक के सीरवाली बोंडियशाला (रुई की दुकान) में से सागारिक का साझीदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को रुई देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र २८

सागारिय बोंडियसाला निस्साहारण वक्कयपउत्ता,

तम्हा दावए,

एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

सागारिक ने बोंडियशाला किसी को किराये पर दी हो और वह किरायेदार उस दुकान में से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को रुई देता है तो उन्हें लेना कल्पता है।

सूत्र २९

सागारियस्स गन्धियसाला साहारण वक्कयपउत्ता,

तम्हा दावए,

नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

सागारिक के सीरवाली गन्धियशाला में से सागारिक का साझीदार निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियों को सुगन्धित पदार्थ देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र ३०

सागारियस्स गंधियसाला निस्साहारण वक्कयपउत्ता,

तम्हा दावए

नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

सागारिक ने गन्धियशाला किसी को किराये पर दी हो और वह किराये-दार उस दुकान में से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को सुगन्धित पदार्थ देता है तो उन्हें लेना कल्पता है।

सूत्र ३१

सागारियस्स सोंडियसाला साहारण ववकयपउत्ता

तम्हा दावए,

नो से कप्पइ पडिगाहेत्तए।

सागारिक के सीरवाली सोंडियशाला (मद्य की दुकान) में से सागा-रिक का साझीदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को सिरका आदि देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र ३२

सागारियस्स सोंडियसाला निस्साहारण ववकयपउत्ता,

तम्हा दावए

एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए।

सागारिक ने सोंडियशाला किराये पर दी हो और वह किरायेदार उस दुकान में से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को सिरका आदि देता है तो उन्हें लेना कल्पता है।

सागारिकौषध्याम्रफल-ग्रहणाग्रहण-विधानम्

सूत्र ३३

सागारियस्स ओसहीओ संथडाओ,

तम्हा दावए,

नो से कप्पइ पडिगाहेत्तए।

सागारिक के सीरवाली औषधियों में से यदि कोई निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को औषधियाँ देता है तो लेना नहीं कल्पता है।

विशेषार्थ—सागारिक के रसोईघर में जो औषधियाँ अर्थात् नाना प्रकार के व्यंजन बनाये जाते हैं। उनमें बनाने वाले रसोइये का भी भाग होता है किन्तु वह भाग सागारिक ने अलग नहीं किया है फिर भी रसोइया निर्ग्रन्थ-

निर्ग्रन्थियों को उन व्यंजनों में से अपने भाग का कुछ अंश देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

यदि सागारिक ने रसोइये का भाग अलग कर दिया है और उसमें से यदि वह निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को देता है तो उन्हें लेना कल्पता है।

सूत्र ३४

सागारियस्स ओसहीओ असंथडाओ,
तम्हा दावए,
एवं से कप्पइ पडिगाहेत्ताए।

सागारिक से वटवारे में प्राप्त औषधियों में से यदि कोई निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को औषधियाँ देता है तो उन्हें लेना कल्पता है।

सूत्र ३५

सागारियस्स अम्बफला संथडा,
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिगाहेत्तए।

सागारिक के सीरवाले आम्र आदि फलों में से यदि कोई निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र ३६

सागारियस्स अंबफला असंथडा
तम्हा दावए,
एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए।

सागारिक से वटवारे में प्राप्त आम्र आदि फल यदि कोई निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को देता है तो उन्हें लेना कल्पता है।

विशेषार्थ (३५-३६)—इन सूत्रों में यद्यपि आम्रफल का कथन है फिर भी सभी प्रकार के भक्ष्य फलों का कथन समझ लेना चाहिए। वे फल यदि शस्त्र-परिणत है किन्तु सागारिक ने रसोइये का भाग अलग नहीं किया है फिर भी रसोइया निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को अपने भाग के फल देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

यदि सागारिक ने रसोइये के फल अलग कर दिये हैं और उनमें से यदि वह निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को देता है तो उन्हें लेना कल्पता है।

सप्तसप्ततिका भिक्षुप्रतिमा-विधानम्

सूत्र ३७

सत्त-सत्तमिया णं भिक्खुपडिमा एगूणपन्नाए
राइंदिएहिं एगेणं छन्नउएणं भिक्खासएणं
अहासुत्तं, अहाकप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं[1]
सम्मं काएणं फासित्ता, पालित्ता, सोहित्ता,
तीरित्ता, किट्टित्ता, आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

प्रतिमा प्रकरण

सप्तसप्तमिका भिक्षु प्रतिमा

सात सात दिन की सातवीं भिक्षु-प्रतिमा ४९ उनचास अहोरात्र में भिक्षा में प्राप्त हुए आहार की १९६ दत्तियों से यथासूत्र (सूत्रानुसार) यथाकल्प (कल्पानुसार) यथामार्ग (ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधनानुसार) यथातथ्य (यथार्थ आचरण से) काया से अंगीकार कर सम्यक् प्रकार पालन करने वाले (अतिचारों का) शोधन करने वाले, भवसागर के तीर को प्राप्त करने वाले (तीर्थकरों के गुण का) कीर्तन करनेवाले अणगार द्वारा जिन आज्ञा के अनुसार प्रतिमा पालन की जाती है ।

विशेषार्थ—इस भिक्षु-प्रतिमा का आराधक प्रथम सप्ताह में प्रतिदिन भक्त-पान की एक-एक दत्ति लेता है । द्वितीय सप्ताह में प्रतिदिन भक्त-पान की दो-दो दत्तियाँ लेता है । तृतीय सप्ताह में प्रतिदिन भक्त-पान की तीन-तीन दत्तियाँ लेता है । चतुर्थ सप्ताह में प्रतिदिन भक्त-पान की चार-चार दत्तियाँ लेता है । पंचम सप्ताह में प्रतिदिन भक्त-पान की पांच-पांच दत्तियाँ लेता है । छठे सप्ताह में प्रतिदिन भक्त-पान की छ-छ दत्तियाँ लेता है । सप्तम सप्ताह में प्रतिदिन भक्त-पान की सात-सात दत्तियाँ लेता है । इस प्रकार उनचास दिनों में एक सौ छियानवे दत्तियाँ भक्त-पान की लेता है ।[2]

---

१ अहा सम्मं फासिया, पालिया, तीरिया, किट्टिया, अणुपालिया भवइ ।"
एवं अग्रेऽपि ।

२ क—ठाणांग० अ० ७, सूत्र ५४५ ।
ख—सम० ४९, सूत्र १ ।
ग—अन्त० व० ८, अ० ५, सू० २३ ।
घ—आयारदसा द० ७, सू० २१ से २४ तक ।

इस प्रतिमा की तालिका इस प्रकार हैं—

सप्ताह	भक्त-पान की दत्तियाँ								योग
प्रथम सप्ताह	,,	१	१	१	१	१	१	१	=७
द्वितीय ,,	,,	२	२	२	२	२	२	२	=१४
तृतीय ,,	,,	३	३	३	३	३	३	३	=२१
चतुर्थ ,,	,,	४	४	४	४	४	४	४	=२८
पंचम ,,	,,	५	५	५	५	५	५	५	=३५
षष्ठ ,,	,,	६	६	६	६	६	६	६	=४२
सप्तम ,,	,,	७	७	७	७	७	७	७	=४९
योग	,,	२८	२८	२८	२८	२८	२८	२८	सर्वयोग =१९६

अष्टाष्टमिका भिक्षुप्रतिमा-विधानम्

सूत्र ३८

अट्ठ अट्ठमिया णं भिक्खु-पडिमा चउसट्ठीए राइंदिएहिं
दोहि य अट्ठासिएहिं भिक्खासएहिं
अहासुत्तं, अहाकप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं
सम्मं काएणं फासित्ता, पालित्ता, सोहित्ता,
तीरित्ता, किट्टित्ता, आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

अष्ट-अष्टमिका भिक्षु प्रतिमा

आठ-आठ दिन की आठवीं भिक्षु प्रतिमा का चौसठ अहोरात्र में भिक्षा में प्राप्त हुए आहार की २८८ दत्तियों से सूत्रानुसार, कल्पानुसार, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधनानुसार, यथार्थ आचरण से, काया से, सम्यक् प्रकार अंगीकारकरने पर पालन करने वाले, अतिचारों का शोधन करने वाले भवसागर के तीर को प्राप्त करने वाले तीर्थंकरों के गुणों का कीर्तन करने वाले अणगार द्वारा जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है ।

विशेषार्थ—इस भिक्षु प्रतिमा का आराधक—
पहले आठ दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की एक-एक दत्ति लेता है ।
दूसरे आठ दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की दो-दो दत्तियाँ लेता है ।
तीसरे आठ दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की तीन-तीन दत्तियाँ लेता है ।
चौथे आठ दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की चार-चार दत्तियाँ लेता है ।
पाँचवे आठ दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की पाँच-पाँच दत्तियाँ लेता है ।

छठे आठ दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की छह-छह दत्तियाँ लेता है।
सातवें आठ दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की सात-सात दत्तियाँ लेता है।
आठवें आठ दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की आठ-आठ दत्तियाँ लेता है।

इस प्रकार चौसठ दिनों में दो सो अठ्यासी दत्तियाँ भक्त-पान की ग्रहण करता है?[1]

इस प्रतिमा की तालिका इस प्रकार है—

पहले आठ दिनों में	भक्त-पान की दत्तियाँ	१	१	१	१	१	१	१	१=८
दूसरे आठ दिनों में	,,	२	२	२	२	२	२	२	२=१६
तीसरे आठ दिनों में	,,	३	३	३	३	३	३	३	३=२४
चौथे आठ दिनों में	,,	४	४	४	४	४	४	४	४=३२
पाँचवे आठ दिनों में	,,	५	५	५	५	५	५	५	५=४०
छठे आठ दिनों में	,,	६	६	६	६	६	६	६	६=४८
सातवें आठ दिनों में	,,	७	७	७	७	७	७	७	७=५६
आठवें आठ दिनों में	,,	८	८	८	८	८	८	८	८=६४
									सर्वयोग
योग	,,	३६	३६	३६	३६	३६	३६	३६	३६=२८८

नव-नवमिका भिक्षुप्रतिमा विधानम्

सूत्र ३६

नवनवमिया णं भिक्खुपडिमा एगासीए राइंदिएहिं
चउहिं य पंचुत्तरेहिं भिक्खासएहिं

---

१ क—ठाणांग अ० ८, सूत्र० ६४५।
ख—सम० ६४ सू० १।
ग—अन्त० व० ८, अ० ५, सू० २४।

अहासुत्तं, अहाकप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं
सम्मं काएणं फासित्ता, पालित्ता, सोहित्ता,
तीरित्ता, किट्टित्ता, आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

नवनवमिका भिक्षु प्रतिमा

नौ नौ दिन की नवमी भिक्षु-प्रतिमा इक्कासी अहोरात्र में भिक्षा में प्राप्त हुए आहार की ४०५ दत्तियों से सूत्रानुसार, कल्पानुसार, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधनानुसार यथार्थ आचरण से, काया से सम्यक् प्रकार अंगीकार करने वाले, पालनकरने वाले, अतिचारों का शोधन करने वाले, भवसागर की तीर को प्राप्त करने वाले तीर्थकरों के गुणों का कीर्तन करने वाले, अणगार द्वारा जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है ।

विशेषार्थ—इस भिक्षु प्रतिमा का आराधक—

पहले नौ दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की एक-एक दत्ति लेता है ।
दूसरे नौ दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की दो-दो दत्तियाँ लेता है ।
तीसरे नौ दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की तीन-तीन दत्तियाँ लेता है ।
चौथे नौ दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की चार-चार दत्तियाँ लेता है ।
पाँचवें नौ दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की पाँच-पाँच दत्तियाँ लेता है ।
छठे नौ दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की छह-छह दत्तियाँ लेता है ।
सातवें नौ दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की सात-सात दत्तियाँ लेता है ।
आठवें नौ दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की आठ-आठ दत्तियाँ लेता है ।
नोवें नौ दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की नौ-नौ दत्तियाँ लेता है ।

इस प्रकार इक्कासी दिनों में चार सौ पाँच दत्तियाँ भक्त-पान की ग्रहण करता है ।[1]

---

१ क—ठाणांग अ० ९, सू० ६८७ ।
ख—सम० ८१, सू० १ ।
ग—अन्त० व० ८, अ० ५, सू० २४/२५ ।

इस प्रतिमा की तालिका इस प्रकार है—

	भक्त-पान की दत्तियाँ										
पहले नो दिनों में		१	१	१	१	१	१	१	१	१	= ९
दूसरे नो दिनों में	,,	२	२	२	२	२	२	२	२	२	=१८
तीसरे नो दिनों में	,,	३	३	३	३	३	३	३	३	३	=२७
चौथे नो दिनों में	,,	४	४	४	४	४	४	४	४	४	=३६
पाँचवें नो दिनों में	,,	५	५	५	५	५	५	५	५	५	=४५
छठे नो दिनों में	,,	६	६	६	६	६	६	६	६	६	=५४
सातवें नो दिनों में	,,	७	७	७	७	७	७	७	७	७	=६३
आठवें नो दिनों में	,,	८	८	८	८	८	८	८	८	८	=७२
नोवें नो दिनों में	,,	९	९	९	९	९	९	९	९	९	=८१
सर्वयोग	,,	४५	४५	४५	४५	४५	४५	४५	४५	४५	=४०५

दश-दशमिका भिक्षु प्रतिमा विधानम्

सूत्र ४०

दसदसमिया णं भिक्खुपडिमा एगेणं राइंदियसएणं
अद्ध छट्ठेहिं य भिक्खासएहिं
अहासुत्तं, अहाकप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं
सम्मं काएणं फासित्ता, पालित्ता, सोहित्ता,
तीरित्ता, किट्टित्ता, आणाए अणुपालित्ता भवइ।

दश दशमिका भिक्षु प्रतिमा

दश दश दिन की दशवीं भिक्षु-प्रतिमा १०० सौ अहोरात्र में भिक्षा में प्राप्त हुए आहार की ५५० पांच सौ पचास दत्तियों की सूत्रानुसार कल्पानुसार ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधनानुसार यथार्थ आचरण से काया से सम्यक् प्रकार अंगीकार करने वाले, पालन करने वाले, अतिचारों का शोधन करने वाले, भवसागर की तीर को प्राप्त करने वाले तीर्थंकरों के गुणों का कीर्तन करने वाले अणगार द्वारा जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

---

१ क—ठाणांग अ० १०, सूत्र ७७०। ख—समव० १०० सूत्र २
ग—अन्त० व० ८, अ० ५, सूत्र २४।

विशेषार्थ—इस भिक्षु-प्रतिमा का आराधक—
पहले दश दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की एक-एक दत्ति लेता है।
दूसरे दश दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की दो-दो दत्तियाँ लेता है।
तीसरे दश दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की तीन-तीन दत्तियाँ लेता है।
चौथे दश दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की चार-चार दत्तियाँ लेता है।
पाँचवें दश दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की पाँच-पाँच दत्तियाँ लेता है।
छठे दश दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की छह-छह दत्तियाँ लेता है।
सातवें दश दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की सात-सात दत्तियाँ लेता है।
आठवें दश दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की आठ-आठ दत्तियाँ लेता है।
नौवें दश दिनों में प्रतिदिन भक्त-पान की नौ-नौ दत्तियाँ लेता है।
दशवें दश दिनों में प्रति भक्त-पान की दश-दश दत्तियाँ लेता है।
इस प्रकार सौ दिनों में ५५० पांच सौ पचास दत्तियाँ भक्त-पान की ग्रहण करता है। इस प्रतिमा की तालिका इस प्रकार है—

पहले दस दिनों में	भक्त-पान की दत्तियाँ	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	=१०
दूसरे दस दिनो में	,,	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	=२०
तीसरे दस दिनों में	,,	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	=३०
चौथे दस दिनों में	,,	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	=४०
पाँचवे दस दिनों में	,,	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	=५०
छठे दस दिनों में	,,	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	=६०
सातवें दस दिनों में	,,	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	=७०
आठवे दस दिनों में	,,	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	=८०
नवे दस दिनों में	,,	९	९	९	९	९	९	९	९	९	९	=९०
दसवे दस दिनों में	,,	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	=१००
												सर्वयोग
योग	,,	५५	५५	५५	५५	५५	५५	५५	५५	५५	५५	=५५०

मोक-प्रतिमा-विधानम्

सूत्र ४१

दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

१ खुड्डिया वा मोयपडिमा,

२ महल्लिया वा मोयपडिमा।

खुड्डियं णं मोयपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स
कप्पइ पढमं सरय-कालसमयंसि वा
चरमनिदाहकाल-समयंसि वा[1]
बहिया गामस्स वा जाव सन्निवेसस्स[2] वा
वणंसि वा, वणदुग्गंसि वा
पव्वयंसि वा, पव्वयदुग्गंसि वा।
भोच्चा आरुभइ, चोद्दसमेणं पारेइ;
अभोच्चा आरुभइ, सोलसमेणं पारेइ।
जाए जाए मोए आइयव्वे, दिया आगच्छइ।
राइं[3] आगच्छइ, नो आईयव्वे।
सपाणे मत्ते आगच्छइ नो आईयव्वे।
अपाणे मत्ते आगच्छइ आईयव्वे।
सबीए मत्ते आगच्छइ नो आईयव्वे।
अबीए मत्ते आगच्छइ आईयव्वे।
ससणिद्धे मत्ते आगच्छइ नो आईयव्वे।
असणिद्धे मत्ते आगच्छइ आईयव्वे।
ससरक्खे मत्ते आगच्छइ नो आईयव्वे।
अससरक्खे मत्ते आगच्छइ आईयव्वे।
जाए जाए मोए आईयव्वे, तं जहा—अप्पे वा, बहुए वा
एवं खलु एसा खुड्डिया मोयपडिमा
अहासुत्तं जाव अणुपालित्ता भवइ।[4]

---

१ पडिवत्ती पुण तासिं चरमनिदाघे व पढमसरए वा। (भाष्यगाथा-१०७)
२ रायहाणीए वा।
३ 'राइं······भवइ' इति पाठो न लभ्यते क्वचित्।
४ मध्यवर्तिपाठो न क्वचित्।

मोक प्रतिमा

दो प्रतिमाएँ कही गई हैं, यथा—१ छोटी मोक प्रतिमा, २ बडी मोक प्रतिमा।

छोटी मोक प्रतिमा—(काल की अपेक्षा) शरद्काल के प्रारम्भ में अथवा ग्रीष्मकाल के अन्त में, (क्षेत्र की अपेक्षा) ग्राम के बाहर यावत् सन्निवेश के बाहर, वन में या वन दुर्ग में, पर्वत पर या पर्वत दुर्ग में अणगार को धारण करना कल्पता है।

जो भोजन करके इस प्रतिमा को धारण करता है वह चौदह भक्त (छह उपवास) करके समाप्त करता है।

जो भोजन किये बिना इस प्रतिमा को धारण करता है वह सोलह भक्त (सात उपवास) करके समाप्त करता है।

(काल की अपेक्षा) दिन में जब जब मूत्र आवे तब तब पी लेना चाहिए, रात में आवे तो नहीं पीना चाहिए।

(भाव की अपेक्षा) प्राणी (कृमि) युक्त मूत्र आवे तो नहीं पीना चाहिए, प्राणी (कृमि) रहित मूत्र आवे तो पीना चाहिए।

वीर्य सहित मूत्र आवे तो नहीं पीना चाहिए, वीर्य रहित मूत्र आवे तो पीना चाहिए।

चिकनाई सहित मूत्र आवे तो नहीं पीना चाहिए, चिकनाई रहित मूत्र आवे तो पीना चाहिए।

रज सहित मूत्र आवे तो नहीं पीना चाहिए, रज रहित मूत्र आवे तो पीना चाहिए।

(द्रव्य की अपेक्षा) अल्प या बहुत जब जब जितना (स्वाभाविक) मूत्र आवे तब तब पूरा पीना चाहिए।

यह छोटी मोक प्रतिमा है। यह प्रतिमा सूत्रानुसार यावत्—जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

सूत्र ४२

महल्लियं णं मोयपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स
कप्पइ से पढम-सरय-काल-समयंसि वा
चरम-निदाह-काल-समयंसि वा
बहिया गामस्स वा जाव सन्निवेसस्स वा
वणंसि वा, वणदुग्गंसि वा, पव्वयंसि वा, पव्वयदुग्गंसि वा

भोच्चा आरुभइ, सोलसमेणं पारेइ
अभोच्चा आरुभइ, अट्ठारसमेणं पारेइ।
जाए जाए मोए आईयव्वे,
तहं चेव जाव—आणाए अणुपालित्ता भवइ।

बड़ी मोक प्रतिमा (काल की अपेक्षा) शरद्काल के प्रारम्भ में या ग्रीष्म-काल के अन्त में, (क्षेत्र की अपेक्षा) ग्राम के बाहर यावत् सन्निवेश के बाहर, वन में या वन दुर्ग में, पर्वत पर या पर्वत-दुर्ग में अणगार को धारण करना कल्पता है।

जो भोजन करके इस प्रतिमा को धारण करता है, वह सोलह भक्त (सात उपवास) करके समाप्त करता है।

जो भोजन किये बिना इस प्रतिमा को धारण करता है वह अठारह भक्त (आठ उपवास) करके समाप्त करता है।

(काल की अपेक्षा) दिन में जब जब मूत्र आये तब तब पीना चाहिए, रात में आवे तो नहीं पीना चाहिए। यावत्—जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विशेषार्थ—मोक प्रतिमा के इन दो (सू० ४१–४२) सूत्रों में वन, वनदुर्ग और पर्वत, पर्वत-दुर्ग=इन शब्दों के विशेष अर्थ ग्रहण किये गये हैं।

जिस वन में एक विशेष जाति के सघन वृक्ष हों वह 'वन' कहा जाता है और जिस वन में अनेक जाति के सघन वृक्ष हों वह 'वन दुर्ग' कहा जाता है। इसी प्रकार जहाँ केवल एक पर्वत हो वह 'पर्वत' कहा जाता है और जहाँ चारों ओर पर्वत ही पर्वत हों वह "पर्वत दुर्ग" कहा जाता है।

इन प्रतिमाओं की आराधना शान्त एकान्त वनों में या पर्वत-कन्दराओं में ही हो सकती है—इसलिए इन प्रतिमाओं की आराधना केवल निर्ग्रन्थ ही कर सकते हैं, किन्तु निर्ग्रन्थियाँ इन प्रतिमाओं की आराधना कर सकती हैं या नहीं? यह एक प्रश्न है—इसके समाधान के लिए—"निर्ग्रन्थियाँ इन प्रतिमाओं की आराधना कर सकती हैं।" ऐसा स्पष्ट विधान या "निर्ग्रन्थियाँ इन प्रतिमाओं की आराधना नहीं कर सकती हैं" ऐसा स्पष्ट निषेध आवश्यक है। अन्यथा धारणा व्यवहारानुसार समाधान किया जा सकता है।

इन प्रतिमाओं की आराधना का इच्छुक श्रमण आवश्यक उपधि साथ में ले और वन में जाकर भाष्योक्त विधि से आराधना करे।

इन प्रतिमाओं का आराधनाकाल नियत नहीं है—इसलिए आराधना की अवधि निश्चित करना आराधक की इच्छा पर निर्भर है। यह छोटी

(अल्पावधि की) या बड़ी (दीर्घावधि की) मोक प्रतिमा स्वेच्छानुसार धारण कर सकता है।

निर्ग्रन्थ श्रमण जिस दिन प्रतिमा धारण करना चाहे उस दिन वह भोजन करके या बिना भोजन किये भी धारण कर सकता है, किन्तु आराधना काल में दत्तियों की संख्या निर्धारित करके ही उसे आहार-पानी ग्रहण करना चाहिये। और आराधना काल समाप्त होने पर सात सप्ताह तक किस क्रम से उसे आहार-पानी ग्रहण करना चाहिये—यह भाष्यकार ने विस्तार पूर्वक बताया है।

इन प्रतिमाओं के आराधनाकाल में केवल स्वमूत्र ही पीना चाहिये। स्वमूत्र भी दो प्रकार का होता है, यथा—पेय और अपेय।

उदर में या मल में कृमियों की अत्यधिक वृद्धि हो जाती है तो मूत्र में कृमि आने लगते हैं,—अतः कृमियुक्त मूत्र अपेय है और कृमि रहित मूत्र पेय है।

आयुर्वेद में माधवनिदान नाम का प्रसिद्ध निदान ग्रन्थ है। उसके मूत्राघात-निदान अध्याय श्लोक १४ में शुक्र-सहित मूत्र का उल्लेख है। इन प्रतिमाओं में शुक्र-युक्त मूत्र पीना निषिद्ध है और शुक्र रहित मूत्र पीना विहित है।

इसी मूत्राघात-निदान के श्लोक २३ में स्निग्ध-मूत्र का भी उल्लेख है। इन प्रतिमाओं में स्निग्ध-मूत्र अपेय है और रूक्ष-मूत्र पेय है।

अश्मरी-निदान के श्लोक १७ में शर्करायुक्त (रजयुक्त) मूत्र का उल्लेख है। इन प्रतिमाओं में रजयुक्त मूत्र अपेय है और रजरहित-मूत्र पेय है।

तात्पर्य यह है कि स्वच्छ, स्वाभाविक मूत्र पीना चाहिए। जिसका मूत्र रोगयुक्त हो उसे अपना मूत्र नहीं पीना चाहिये।

इन प्रतिमाओं की आराधना का फल भाष्यकार ने इस प्रकार बताया है।

गाहाओ

सव्वातो पडिमातो, साधु मोयंति पावकम्मेहिं।
एएण मोयपडिमा, अहिगारो इहं तु माएण ॥८८॥
सिद्धाए पडिमाए, कम्म-विमुक्को हवइ सिद्धो।
देवो महड्ढितो वावि, रोगातोऽहवा मुच्चति ॥८९॥

इन दो गाथाओं में "मोक प्रतिमा" की आराधना का फल इस प्रकार बताया गया है।

क–मोचयति पापकर्मभ्यः साधुमिति मोका, साचासौ प्रतिमा च मोक-प्रतिमा ।

ख–मोका परित्यागप्रधाना प्रतिमा मोकप्रतिमा, अस्यां च प्रतिमायां सिद्धायां कश्चित् कालं कुर्वन् कर्मविमुक्तः सिद्धो भवति, यदि वा महर्द्धिको देवः ।

ग–अथवा काले कारणाभावे रोगाद् विमुच्यते, शरीरेण कनकवर्णो जायते ।

व्यव० भाष्य मलयगिरी टीका उद्दे० ९ सूत्र ४१-४२ पृ० १५-१६ । शेष सब सूत्रार्थ में स्पष्ट है ।

स्थानाङ्ग स्था० अ० २, उद्दे० ३, सूत्र ८४ में इन मोक प्रतिमाओं का उल्लेख है ।

वृहत्कल्प उद्दे० ५, सूत्र ४६ में उग्र रोग या आतङ्क (सर्पदंश आदि) होने पर मोक (मूत्र) पीने का विधान है ।

आयुर्वेद में "शिवाम्बुकल्प" मूत्र चिकित्सा का स्वतन्त्र ग्रन्थ है । भाव प्रकाशादि ग्रन्थों में भी मूत्र चिकित्सा के अनेक उल्लेख हैं ।

दत्ति-संख्या-विधानम्

सूत्र ४३

संखावत्तियस्स भिक्खुस्स पडिग्गहधारिस्स
गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठस्स
जावइयं जावइयं केइ अन्तो पडिग्गहंसि उवइत्तु दलएज्जा
तावइयाओ दत्तीओ वत्तव्वं सिया ।
तत्थ से केइ छब्बएण[1] वा, दूसएण वा, वालएण वा
अन्तो पडिग्गहंसि उवित्ता दलएज्जा
सव्वा वि णं सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया ।
तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सयं पिण्डं
साहणिय अन्तो पडिग्गहंसि उवित्ता दलएज्जा,
सव्वा वि णं सा एगा दत्ति वत्तव्वं सिया ।

दत्ति-परिमाण

आहार अभिग्रह :

दत्तियों की संख्या का अभिग्रह करने वाला पात्रधारी निर्ग्रन्थ भिक्षु गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रवेश करे उस समय—

---

१ छप्पएण ।

१. आहार देने वाला गृहस्थ पात्र में जितनी बार झुककर बिना रुके आहार दे उतनी ही "दत्तियाँ" कहनी चाहिये।

२. आहार देने वाला गृहस्थ यदि छबड़ी से, वस्त्र से या चलनी से छानकर पात्र में (सत्तु आदि या पेय बिना रुके) जितना दे वह सब "एक दत्ति" कही जानी चाहिए।

३. आहार देने वाले गृहस्थ जहाँ अनेक हों और वे सब अपना-अपना आहार सम्मिलित कर एक साथ बिना रुके जितना आहार पात्र में दे वह सब "एक दत्ति" कही जानी चाहिये।

सूत्र ४४

संखादत्तियस्स[1] णं भिक्खुस्स पाणिपडिग्गहियस्स
गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए अणुपविट्ठस्स
जावइयं केइ अन्तो पाणिंसि पडिग्गहंसि उवइत्तु दलएज्जा,
तावइयाओ दत्तीओ वत्तव्वं सिया।
तत्थ से केइ छब्बएण वा दूसएण वा वालएण वा
अन्तो पाणिंसि उवित्ता दलएज्जा
सव्वा वि णं सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया।
तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सयं पिण्डं साहणिय
अन्तो पाणिंसि पडिग्गहंसि उवित्ता दलएज्जा
सव्वा वि णं सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया।

दत्तियों की संख्या का अभिग्रह करने वाला पाणि-पात्रभोजी निर्ग्रन्थ भिक्षु गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रवेश करे उस समय—

१, आहार देने वाला गृहस्थ जितनी बार झुककर बिना रुके कर-पात्र में आहार दे उतनी ही "दत्तियाँ" कहनी चाहिए।

२. आहार देने वाला गृहस्थ यदि छबड़ी से, वस्त्र से या छलनी से छान-कर कर-पात्र में (सत्तु आदि पेय बिना रुके) जितना दे वह सब "एक दत्ति" कही जानी चाहिये।

३. आहार देने वाले गृहस्थ जहाँ अनेक हों और वे सब अपना-अपना आहार सम्मिलित कर एक साथ बिना रुके जितना आहार कर-पात्र में दें वह सब "एक दत्ति" कही जानी चाहिये।

---

१ पाणिपडिग्गहियस्स णं जावइयं केइ० ।

विशेषार्थ—भाष्यकार ने भिक्षा और दत्ति की व्याख्या इस प्रकार की है।

जो आहार (खाद्य या पेय) हाथ या पात्र से भिक्षु के पात्र में दिया जाय वह "भिक्षा" है।

जो आहार (खाद्य या पेय) हाथ या पात्र से एक बार में बिना रुके भिक्षु के पात्र में जितना दिया जाय वह एक "दत्ति" है। इस प्रकार भिक्षु के पात्र में खाद्य या पेय जितनी बार रुक कर दिया जाता है उतनी ही दत्तियां गिनी जाती हैं।

भिक्षाचर्या तप है, क्योंकि भिक्षा में इष्ट आहार की प्राप्ति सदा सम्भव नहीं है। भिक्षा में आहार कभी सरस तो कभी नीरस, कभी स्निग्ध तो कभी रूक्ष, कभी प्रतिपूर्ण तो कभी अपूर्ण मिलता है।

भिक्षाचर्या करने वाले के ऊनोदरी, रस-परित्याग आदि तप भी प्रायः होते रहते हैं।

अभिग्रह धारण करके भिक्षाचर्या करना और भी उग्र तप है। अभिग्रह अनेक प्रकार के हैं। उनमें दत्तियों की संख्या निर्धारित कर आहार की एषणा करना भी एक प्रकार का अभिग्रह है।

दाता और भिक्षा के चार विकल्प (भंग) है।

१ एक दाता और एक भिक्षा (एक प्रकार का आहार)

१ एक दाता और अनेक भिक्षा (अनेक प्रकार के आहार)

३ अनेक दाता और एक भिक्षा।

४ अनेक दाता और अनेक भिक्षा।

ये चारों विकल्प पात्र-भोजी और पाणी-पात्र-भोजी निर्ग्रन्थ श्रमणों की अपेक्षा से कहे गये हैं।

दाता और दत्तियों की अपेक्षा से भिक्षा के आठ विकल्प (भंग) हैं।

१ एक दाता एक भिक्षा (एक प्रकार का आहार) एक बार देता है।

२ एक दाता एक भिक्षा को अनेक बार करके देता है।

३ एक दाता अनेक भिक्षाओं को (अनेक प्रकार के आहार को सम्मिश्रित करके) एक बार में दे देता है।

४ एक दाता अनेक भिक्षाओं को अनेक बार करके देता है।

५ अनेक दाता एक भिक्षा को एक बार में (बिना रुके) दे देते हैं।

६ अनेक दाता एक भिक्षा को अनेक बार करके देते हैं।

७ अनेक दाता अनेक भिक्षाओं को सम्मिलित कर एक वार में दे देते हैं।

८ अनेक दाता अनेक भिक्षाओं को अनेक वार करके देते हैं।

उपहृताहार-भेद विधानम्—

सूत्र ४५

तिविहे उवहडे पण्णत्ते, तंजहा—

१ सुद्धोवहडे, २ फलिओवहडे, ३ संसट्ठोवहडे।

आहार अभिग्रह

उपहृत (खाने के लिए लाया गया) आहार तीन प्रकार का माना गया है, यथा—

१ शुद्धोपहृत—व्यंजन रहित शुद्ध आहार। अथवा—कांजी या पानी के अल्पलेप से लिप्त आहार।

२ फलितोहृत—अनेक प्रकार के व्यंजनों से या भक्ष्य पदार्थों से मिश्रित आहार।

३ संसृष्टोपहृत—गृहस्थने खाने की इच्छा से आहार हाथ में लिया है किन्तु मुंह में नहीं रखा है-ऐसा आहार।

विशेषार्थ—स्थानांग स्था० अ० ३, उ० ३, सूत्र १८२ के अन्तर्गत यह सूत्र इस प्रकार है—तिविहे उवहडे पण्णत्ते, तंजहा—१ फलियोवहडे, २ सुद्धोवहडे, ३ संसट्ठोवहडे। इस सूत्र में केवल क्रम भेद है।

सूत्रोक्त "उवहडे" शब्द का संस्कृत रूपान्तर भाष्यकार ने "उपहृत" किया है। और स्थानाङ्ग के टीकाकार ने "उपहृत" किया है। भाष्यकार ने "उपहृत" का अर्थ किया है—खाने की इच्छा से लाया हुआ आहार। स्थानाङ्ग के टीकाकार ने "उपहृत" का अर्थ किया है—अन्यत्र बने हुए आहार को भोजन करने के स्थान पर लाना।

आहार की एषणा के सम्बन्ध में कुछ विशेष प्रकार के अभिग्रह धारण करने वाले निर्ग्रन्थ मुनियों के अभिग्रहों में से इस सूत्र में केवल तीन अभिग्रहों का कथन है।

क=अभिग्रहधारी निर्ग्रन्थ भिक्षु शुद्धोपहृत अर्थात् व्यंजन आदि से रहित शुद्ध आहार। अथवा कांजी या पानी आदि अल्पलेप वाला आहार ग्रहण करता है। सात पिंडेषणाओं में से चौथी पिंडेषणा भी यही है।

ख=अभिग्रहधारी निर्ग्रन्थ भिक्षु "फलितोपहृत"—अर्थात् नाना प्रकार के व्यंजनों से अथवा नाना प्रकार के भक्ष्य-पदार्थों से मिश्रित आहार ग्रहण करता है। यह आहार लेपयुक्त ही होता है।

फलिओवहडे—इसका संस्कृत रूपान्तर भाष्य के अनुसार "फलितोपहृत" किया गया है और स्थानाङ्ग के टीकाकार ने "फलिकोपहृत" किया है। पाइअसद्दमहण्णव प्राकृत कोश के अनुसार "फलित" देश्य शब्द है। इसका अर्थ भाष्यकार ने और टीकाकार ने "प्रहेणकादी" किया है। प्रहेणक-उपहार में देने योग्य खाद्य पदार्थ, जिसे राजस्थान में "लावणा" कहा जाता है।

ग—अभिग्रहधारी निर्ग्रन्थ भिक्षु "संसृष्टोपहृत" अर्थात् गृहस्थ ने खाने की इच्छा से आहार थाली में लिया है और उसे खाने के लिए हाथ में भी ले लिया है किन्तु अभी तक मुंह में नहीं रखा है—ऐसा आहार ग्रहण करे। यह आहार लेपयुक्त या लेपरहित दोनों प्रकार का होता है।

अभिग्रहधारी निर्ग्रन्थ भिक्षु खाने के निमित्त लिये हुए आहार को ही लेने का जब अभिग्रह धारण कर लेता है, तब सूत्रोक्त तीन प्रकार के आहार की एषणा करता हुआ आहार ग्रहण करता है। यदि अभिग्रहानुसार सूत्रोक्त आहार नहीं प्राप्त होता है तो वह उस दिन निराहार ही रहता है।

अवग्रह-भेद विधानम्—

सूत्र ४६

तिविहे ओग्गहिए पण्णत्ते, तंजहा—

१ जं च ओगिण्हइ, २ जं च साहरइ, ३ जं च आसगंसि पक्खिवइ।

एगे एवमाहंसु

दुविहे ओग्गहिए पण्णत्ते, तंजहा—

१ जं च ओगिण्हइ,

२ जं च आसगंसि पक्खिवइ। त्ति बेमि।

अवगृहीत (परोसने के लिए रसोईघर या कोठार से निकाला हुआ) आहार तीन प्रकार का है, यथा—

१ परोसने के लिए हाथ में लिया हुआ।

१ जीमने के लिए थाली में परोसा हुआ।

३ मुंह में डाला जाता हुआ।

कुछ आचार्यों ने ऐसा कहा है।

अवगृहीत आहार दो प्रकार का है, यथा—

१ परोसने के लिए हाथ में लिया जाता हुआ।

२ मुंह में डाला जाता हुआ।

विशेषार्थ—अभिग्रहधारी निर्ग्रन्थ भिक्षु के आहार सम्बन्धी तीन अभिग्रहों का कथन पूर्व सूत्र में किया गया है और इन दो सूत्रों में आहार सम्बन्धी

तीन प्रकार के अन्य अभिग्रहों का कथन है। पूर्वोक्त तीन अभिग्रहों से ये तीन अभिग्रह अधिक कठिन हैं।

प्रथम अभिग्रह—परोसने के लिए हाथ में लिया हुआ आहार लेना।

परोसने वाला किसी जीमने वाले को खाद्य-पदार्थ परोसने लगे—पर जीमने वाला लेना न चाहे, उस समय अभिग्रहधारी निर्ग्रन्थ भिक्षु आहार की एषणा करते हुए वहाँ आ जाए और उन्हें जीमने वाला प्रार्थना करे कि भगवन्! आप आहार के लिए पात्र निकालें। मुनि ने पात्र निकाला—उस समय परोसने वाला यदि परोसने के लिए हाथ में लिए हुए खाद्य पदार्थ को दे तो वह उसे लेना कल्पता है।

इसमें परोसने वाले को अन्य कोई क्रिया नहीं करनी पड़ी। केवल जीमने वाले की ओर किये हुये हाथ को मोड़ कर अभिग्रहधारी निर्ग्रन्थ भिक्षु की ओर करना पड़ा।

पूर्व सूत्र में उक्त शुद्ध या संसृष्ट आहार ही इस अभिग्रह में ग्रहण किया जाता है तथा यह अभिग्रह सप्त पिंडैषणाओं में से छट्ठी पिंडैषणा के समान है।

द्वितीय अभिग्रह—थाली में परोसा हुआ आहार लेना। जीमने वाले की थाली में जो आहार सर्वप्रथम परोसा गया है वही आहार यदि परोसने वाला अविचल रह कर अभिग्रह धारी निर्ग्रन्थ भिक्षु को दे तो वह उसे लेना कल्पता है।

तृतीय अभिग्रह—मुंह में डाले जाते हुए आहार को लेना। सबके जीम लेने के बाद परोसने वाले के पात्र में रहा हुआ शेष आहार रसोईघर या कोठार में रखे हुए बड़े बर्तन में जब डाला जाने लगे तब आहार की एषणा करता हुआ अभिग्रह धारी निर्ग्रन्थ भिक्षु यदि वहाँ आ जावे और वह (बर्तन के मुंह में डाला जाता हुआ) आहार कोई दे तो उसे लेना कल्पता है।

इस तृतीय अभिग्रह में "मुंह में डाला जाता हुआ आहार लेने का कथन है"—इससे यह आशंका होती है कि मुंह में डाला जाता हुआ आहार केवल एक ग्रास मात्र होता है और वह भी उच्छिष्ट होता है। अतः भिक्षु वह आहार कैसे ले सकता है?

इसका समाधान यह है कि यहाँ "मुंह में रखा जाता हुआ आहार" का अभिप्राय है—रसोईघर या कोठार में रखे हुये बड़े बर्तन के मुंह में डाला जाता हुआ आहार।

अभिग्रहधारी भिक्षु उक्त प्रकार का आहार ही अपने अभिग्रह के अनुसार ले सकता है।

नवमो उद्देसओ समत्तो

नवम उद्देशक समाप्त

दसमो उद्देसओ

दशम उद्देशक

सूत्र १

दो पडिमाओ पण्णत्ताओ।

तंजहा—१ जवमज्झा य चंदपडिमा

२ वइरमज्झा य चंदपडिमा।

जवमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं मासं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ परीसहोवसग्गा समुप्पज्जंति

दिव्वा वा माणुस्सगा वा तिरिक्खजोणिया वा

अणुलोमा वा पडिलोमा वा,

तत्थ अणुलोमा ताव वंदेज्जा वा, नमंसिज्जा वा, सक्कारेज्जा वा सम्माणेज्जा वा

कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेज्जा,

पडिलोमा ताव अन्नयरेणं दंडेण वा अट्ठिणा वा जोत्तेण वा वेत्तेण वा कसेण वा काए आउट्टेज्जा,

ते सव्वे उप्पन्ने सम्मं सहइ खमइ तितिक्खइ अहियासेइ ॥१॥

प्रतिमा प्रकरण

दो प्रतिमायें कही गई हैं, यथा—१ यवमध्य चन्द्रप्रतिमा, २ वज्रमध्य चन्द्रप्रतिमा।

यवमध्य चन्द्रप्रतिमा स्वीकार करने वाला अणगार एक मास तक शरीर के परिकर्म से तथा शरीर के ममत्व से रहित रहता है और उसे (प्रतिमा आराधन काल में) देव, मनुष्य एवं तिर्यंचकृत अनुकूल या प्रतिकूल परीषह एवं उपसर्ग होते हैं।

उनमें अनुकूल परीषह एवं उपसर्ग ये हैं—

प्रतिमाधारी को देव-मनुष्यादि वन्दना-नमस्कार करते हैं, सत्कार-सम्मान करते हैं; कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप और चैत्यरूप मानकर पर्युपासना करते हैं, किन्तु वह इन परिषह एवं उपसर्गों से हर्षित नहीं होता है—

उनमें प्रतिकूल परीषह एवं उपसर्ग ये हैं—

देव-मनुष्यादि (प्रतिमाधारी के शरीर पर) दंड, हड्डी, जोत बेंत और

कशा (चाबुक) से प्रहार करे तो वह इन प्रतिकूल परीषह एवं उपसर्गों को (द्वेष भाव रहित होकर) सहन करता है, उपसर्ग करने वालों को क्षमा प्रदान करता है तथा वीरता के साथ अडोल अकम्प रह कर सहन करता है।

विशेषार्थ—यवमध्य और चन्द्रमध्य प्रतिमा के आराधनकाल में अणगार एक मास तक शरीर का परिकर्म न करे—सूत्रोक्त इस निषेध का तात्पर्य यह है कि प्रतिमाधारी अणगार को वात-पित्त-कफ जन्य रोग यदि हो जावे तो वह उनकी चिकित्सा न करावे।

शरीर पर ममत्व नहीं रखने का तात्पर्य है—प्रतिमाधारी अणगार को यदि कोई बांधे मारे-पीटे या नजर कैद करे तो वह उन्हें न रोके।

देव-मनुष्य और तिर्यंचकृत बारह उपसर्ग भाष्यकार ने इस प्रकार कहे हैं—

देवकृत चार उपसर्ग—

१ कौतूहल वश—दूसरे को दुःख देने में जिन्हें आनन्द आता है। ऐसे देव प्रतिमाधारी अणगार को कौतूहल वश उपसर्ग करते हैं।

२ द्वेष वश—पूर्व भव के वैरानुबन्ध से देव उपसर्ग करते हैं।

३ विमर्श वश—प्रतिमाधारी अणगार प्रतिमा की आराधना से विचलित होता है या नहीं ? यह देखने के लिए भी देव उपसर्ग करते हैं।

४—कौतूहल; द्वेष और विमर्शवश—उपसर्ग करने वाले किसी देव में उक्त तीनों संयुक्त भी होते हैं।

मानवकृत चार उपसर्ग—

तीन पूर्वोक्त

चौथा—विषय विकारजन्य संकल्पवश अर्थात् मानवी (स्त्री) प्रतिमा प्रतिपन्न अणगार से कुशील प्रतिसेवनार्थ उपसर्ग करती है।

तिर्यंचकृत उपसर्ग—

१ भयभीत होकर कुत्ते आदि का काट खाना, सांड आदि का टक्कर मारना।

२ द्वेष वश—चंडकौशिक के समान सर्प आदि का डसना।

३ क्षुधा निवारणार्थ—क्षुधानिवृत्ति के लिए सिंहादि श्वापदों का उपसर्ग करना।

४ शावकों की रक्षा के लिए द्विपद—पक्षी, चतुष्पद एवं श्वापद पशुओं का आक्रमण करना।

सूत्रगत "व्युत्सृष्ट" शब्द से यहां प्रतिमाधारी अणगार के स्वयं के शरीर से होने वाले उपसर्ग चार प्रकार के हैं।

१ घट्टन से—आंख में रजकण के गिरने से आंख दुखना। आंख में खील होना, गले में गांठ होना।

२ पतन से—असावधानी से चलने पर चोट लगना या गिर जाना।

३ स्तम्भन से—कुछ देर तक एक जगह बैठे रहने से पैरों का सो जाना।

४ श्लेष्म से या वात से—पैर आदि का वक्र हो जाना।

यवमध्य-चन्द्र-प्रतिमा विधानम्

सूत्र २

जवमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स
सुक्कपक्खस्स पाडिवए कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स
पडिगाहेत्तए, एगा पाणस्स।
सव्वेहिं दुप्पय चउप्पयाइएहिं आहारकंखीहिं सत्तेहिं पडिणियत्तेहिं
अन्नायउंछं, सुद्धोवहडं,
निज्जूहित्ता बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण वणीमगा।
कप्पइ से एगस्स भुंजमाणस्स पडिग्गाहेत्तए
नो दोण्हं, नो तिण्हं, नो चउण्हं. नो पंचण्हं,
नो गुव्विणीए, नो बालवच्छाए, नो दारगं पेज्जमाणीए,
नो कप्पइ अंतो एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए,
नो बाहिं एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए।
अह पुण एवं जाणेज्जा—एगं पायं अंतो किच्चा
एगं पायं बाहिं किच्चा एलुयं विक्खम्भइत्ता
एयाए एसणाए एसमाणे लब्भेज्जा आहारेज्जा,
एयाए एसणाए एसमाणे णो लब्भेज्जा, णो आहारेज्जा।
बिइज्जाए से कप्पइ दोण्णि दत्तीओ भोयणस्स पडिग्गाहेत्तए,
दोण्णि पाणस्स।
तइयाए से कप्पइ तिण्णि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तिण्णि पाणस्स।
चउत्थीए से कप्पइ चउदत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउ पाणस्स।
पंचमीए से कप्पइ पंचदत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए पंच पाणस्स।
छट्ठीए से कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए छ पाणस्स।

सत्तमीए से कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, सत्त पाणस्स ।
अट्ठमीए से कप्पइ अट्ठ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए अट्ठ पाणस्स ।
नवमीए से कप्पइ नव दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए नव पाणस्स ।
दसमीए से कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दस पाणस्स ।
एगारसमीए से कप्पइ एगारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगारस पाणस्स ।
बारसमीए से कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, बारस पाणस्स ।
तेरसमीए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तेरस पाणस्स ।
चोद्दसमीए से कप्पइ चोद्दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चोद्दस पाणस्स ।
पन्नरसमीए से कप्पइ पन्नरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए पन्नरस पाणस्स।
बहुलपक्खस्स से पाडिवए कप्पति चोद्दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउद्दस पाणस्स
सव्वेहिं दुप्पय-जाव णो आहारेज्जा ।
बितियाए, कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए,
तेरस पाणस्स जाव—णो आहारेज्जा ।
ततियाए कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए,
बारस पाणस्स जाव णो आहारेज्जा ।
चउत्थीए कप्पइ एक्कारस दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा ।
पंचमीए कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा ।
छट्ठीए कप्पइ नव दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा ।
सत्तमीए कप्पइ अट्ठ दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा ।
अट्ठमीए कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा ।
नवमीए कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा ।
दसमीए कप्पइ पंच दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा ।
एक्कारसीए कप्पइ चउ दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा ।
बारसीए कप्पइ ति दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा ।
तेरसीए कप्पइ दो दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा ।
चउदसीए कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा ।
आमावासाए से य अभत्तट्ठे भवइ ।

एवं खलु एसा जवमज्झचंदपडिमा अहासुत्तं, अहाकप्पं,
जाव अणुपालिया भवइ।

यवमध्य चन्द्र प्रतिमा विधान

यवमध्य चन्द्र प्रतिमा के आराधक अणगार को शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन आहार और पानी की एक-एक दत्ति ग्रहण करना कल्पता है।

आहार की आकांक्षा करने वाले सभी द्विपद (मनुष्य पक्षी आदि) चतुष्पद (गाय; भैंस आदि) आहार लेकर लौट गये हों (प्रतिमाधारी अणगार उस समय आहार की एषणा करता है।)

उसे अज्ञातरूप से शुद्ध (अल्पलेप वाला) अल्प आहार लेना कल्पता है।

जिस गृह से अनेक श्रमण-ब्राह्मण, अतिथि, कृपण (दरिद्री) वनीपक (याचक) आहार लेकर लौट गये हों। वहां से आहार लेना कल्पता है।

जिस गृह में एक व्यक्ति भोजन कर रहा हो वहां से आहार लेना कल्पता है, किन्तु जहां दो, तीन, चार या पांच व्यक्ति भोजन कर रहे हों वहां से लेना नहीं कल्पता है।

गर्भिणी, छोटे बच्चे वाली और बच्चे को दूध पिलाने वाली के हाथ से तथा उनके निमित्त बने हुए आहार में से आहार लेना नहीं कल्पता है।

जिसके दोनों पैर देहली के अन्दर हो या बाहर हो, ऐसी स्त्री से आहार लेना नहीं कल्पता है। (प्रतिमाधारी अणगार) यदि ऐसा जाने कि यदि एक पैर देहली के अन्दर है और एक पैर देहली के बाहर है तो उसके हाथ से आहार लेना कल्पता है।

इस प्रकार एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो आहार करे, इस प्रकार एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो आहार न करे।

शुक्लपक्ष की द्वितीया के दिन प्रतिमाधारी अणगार को भोजन और पानी की दो-दो दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।

आहार की आकांक्षा करने वाले सभी द्विपद चतुष्पद आहार लेकर लौट गये हों—(प्रतिमाधारी उस समय आहार की एषणा करता है।)

उसे अज्ञात भाव से शुद्ध अल्प आहार लेना कल्पता है।

जिस गृह से अनेक श्रमण-ब्राह्मण, अतिथि, कृपण (दरिद्री) वनीपक (याचक) आहार लेकर लौट गए हों—वहां से आहार लेना कल्पता है—यावत् इस प्रकार एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो आहार न करे।

इस प्रकार शुक्ल पक्ष की तृतीया के दिन तीन—यावत् पूर्णिमा के दिन पन्द्रह-पन्द्रह दत्तियां भोजन और पानी ग्रहण करना कल्पता है।

कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन चौदह-चौदह दत्तियां भोजन और पानी की ग्रहण करना कल्पता है।

आहार की आकांक्षा करने वाले सभी द्विपद, चतुष्पद आहार लेकर लौट गये हों—(प्रतिमाधारी अणगार उस समय आहार की एषणा करता है)। यावत्—इस प्रकार एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो आहार न करे।

इस प्रकार यावत्—कृष्ण पक्ष की चौदस के दिन एक-एक दत्ति आहार और पानी लेना कल्पता है और अमावस्या के दिन उपवास करता है।

इस प्रकार इस यवमध्यचन्द्र-प्रतिमा का सूत्रानुसार, कल्पानुसार ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधनानुसार यथार्थ आचरण से काया से, सम्यक् प्रकार अंगीकार करने पर, पालन करने पर, अतिचारों का शोधन करने पर, भवसागर की तीर को प्राप्त करने पर तीर्थंकरों के गुणों का कीर्तन करने पर जिनाज्ञानुसार पालन होता है।

वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा विधानम

सूत्र ३

वइरमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स मासं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ परिसहोवसग्गा समुप्पज्जंति, तं जहा—

दिव्वा वा, माणुस्सगा वा, तिरिक्खजोणिया वा—
अणुलोमा वा पडिलोमा वा।
तत्थ अणुलोमा वा ताव वंदेज्जा वा नमंसेज्जा वा
सक्कारेज्जा वा सम्माणेज्जा वा,
कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेज्जा।
तत्थ पडिलोमा वा अन्नयरेणं दंडेण वा, अट्ठीए वा मुट्ठीए वा
जोत्तेण वा, वेत्तेण वा, कसेण वा
काए आउट्टेज्जा,
ते सव्वे उप्पन्ने सम्मं सहेज्जा खमेज्जा,
तिइक्खेज्जा, अहियासेज्जा।

वज्रमध्य-चन्द्र प्रतिमा विधान

वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा स्वीकार करने वाला अणगार एक मास तक नित्य शरीर के परिकर्म से तथा शरीर के ममत्व से रहित रहता है और उसे कुछ परीषह एवं उपसर्ग होते हैं, यथा—

देव, मनुष्य और तिर्यंचकृत अनुकूल या प्रतिकूल परीषह एवं उपसर्ग।

उनमें अनुकूल परीषह एवं उपसर्ग ये हैं—

प्रतिमाधारी अणगार को देव मनुष्यादि वंदना नमस्कार करते हैं, सत्कार सन्मान करते हैं, कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप तथा चैत्यरूप मान कर पर्युपासना करते हैं—किन्तु वह इन परीषह एवं उपसर्गों से हर्षित नहीं होता है।

उनमें प्रतिकूल परीषह एवं उपसर्ग ये हैं—

देव मनुष्यादि प्रतिमाधारी अणगार के शरीर पर दंड; हड्डी, जोत, बेंत या चाबुक से प्रहार करे तो वह इन प्रतिकूल परीषह एवं उपसर्गों को (द्वेष भाव रहित होकर) सहन करता है, उपसर्ग करने वालों को क्षमा प्रदान करता है तथा वीरतापूर्वक अकम्प रह कर सहन करता है।

सूत्र ४

वइरमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स

बहुलपक्खस्स पाडिवए कप्पइ पन्नरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पन्नरस पाणगस्स;

सव्वेहिं दुप्पय-चउप्पयाइएहिं आहारकंखीहिं जाव णो आहारेज्जा।

बितियाए से कप्पइ चउद्दस दत्तीओ भोयणस्स चउद्दस पाणगस्स पडिगाहेत्तए जाव णो आहारेज्जा।

तइयाए कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।

चउत्थीए कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।

पंचमीए कप्पइ एगारस दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।

छट्ठीए कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।

सत्तमीए कप्पइ नव दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।

अट्ठमीए कप्पइ अट्ठ दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।

नवमीए कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।

दसमीए कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।

एगारसीए कप्पइ पंच दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।

बारसीए कप्पइ चउ दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।

तेरसीए कप्पइ तिन्नि दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।

चउदसीए कप्पइ दो दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।

आमावासाए कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहेत्तए जाव णो आहारेज्जा।

सुक्कपक्खस्स पाडिवए से कप्पइ दो दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।
बितियाए से कप्पइ तिन्नि दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।
तइयाए से कप्पइ चउ दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।
चउत्थीए से कप्पइ पंच दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।
पंचमीए से कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।
छट्ठीए से कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।
सत्तमीए से कप्पइ अट्ठ दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।
अट्ठमीए से कप्पइ नव दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।
नवमीए से कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।
दसमीए से कप्पइ एगारस दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।
एगारसीए से कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।
बारसीए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।
तेरसीए से कप्पइ चउद्दस दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।
चउद्दसीए से कप्पइ पन्नरस दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा।
पुण्णिमाए अब्भत्तट्ठे भवइ।
एवं खलु एसा वइरमज्झा चंदपडिमा अहासुत्तं अहाकप्पं
जाव अणुपालिया भवइ।

वज्रमध्य-चन्द्र-प्रतिमा स्वीकार करने वाले अणगार को कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन पन्द्रह-पन्द्रह दत्तियाँ आहार और पानी की लेना कल्पता है।

आहार की आकांक्षा करने वाले सभी द्विपद-चतुष्पद आहार लेकर लौट गए हों। (प्रतिमाधारी उस समय आहार की एषणा करता है) यावत्-इस प्रकार एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो आहार न करे।

इस प्रकार-यावत्-अमावस्या के दिन एक दत्ती आहार और पानी की लेना कल्पता है।

शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के दिन दो दो दत्तियाँ आहार और पानी की ग्रहण करना कल्पता है-यथावत्-इस प्रकार एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो आहार न करे।

इस प्रकार-यथावत्-शुक्लपक्ष की चौदस के दिन पन्द्रह-पन्द्रह दत्तियाँ आहार और पानी की लेना कल्पता है। पूर्णिमा के दिन वह उपवास करता है।

इस प्रकार यह वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा के सूत्रानुसार, कल्पानुसार, ज्ञान-दर्शन-चरित्र की आराधनानुसार यथार्थ आचरण से, काया से, सम्यक् प्रकार अंगीकार करने पर, पालन करने पर, अतिचारों का शोधन करने पर, भव-सागर की तीर को प्राप्त करने पर तीर्थंकरों के गुणों का कीर्तन करने पर जिनाज्ञानुसार पालन होता है।

विशेषार्थ—प्रथम तीन संहनन वाले, जघन्य उनतीस वर्ष, उत्कृष्ट कुछ कम क्रोडपूर्व की दीक्षापर्यायवाले, जघन्य नोवें पूर्व की तृतीय आचार की वस्तु के ज्ञाता, उत्कृष्ट कुछ कम दश पूर्व के ज्ञाता-इन प्रतिमाओं की आरा-धना करने में समर्थ होते हैं। यह भाष्यकार का अभिमत है।

सूत्र गत "अज्ञात उञ्छ" शब्द का अभिप्राय इस प्रकार है।

आज जितनी दत्तियाँ ग्रहण करनी है उनकी संख्या की जानकारी प्रतिमा-धारी किसी को नहीं होने देता—इसलिए प्रतिमाप्रतिपन्न अणगार का तप "अज्ञात उञ्छ" तप होता है।

वह चार प्रकार का है—

१ द्रव्याभिग्रह—भोजन करने के बाद बचा हुआ आहार जो घृत आदि के स्निग्धलेप से रहित हो और देने के लिए समीप लाया हुआ हो वही लेना; दूर पड़ा हो वह नहीं लेना।

वह भी जहाँ एक व्यक्ति के भोजन करने के बाद जो बचा हुआ आहार हो वही आहार लेना। किन्तु जहाँ पर दो, तीन, चार या पाँच व्यक्ति भोजन कर चुके हों और वे बचा हुआ आहार देना चाहें तो न लेना।

इस विधि-निषेध का भाष्यकार ने कारण बताते हुये कहा है कि प्रतिमा धारी से कोई नाराज न हो। इसलिए वह एक के हाथ से ही आहार लेता है।

एक के हाथ से ले और एक के हाथ से न ले—यह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जिसके हाथ से न ले वही नाराज होता है।

प्रतिमाधारी अणगार निर्धारित संख्यानुसार दत्तियाँ लेता है अतः एक के हाथ से ही आहार लेता है।

इस अभिग्रह में अन्तिम दो पिंडैषणाओं के अनुसार आहार की एषणा करना कल्पता है।

२ क्षेत्राभिग्रह—देहली यदि अधिक ऊँची हो और उसके अन्दर दोनों पैर रखकर आहार दे तो न लेना, क्योंकि उसके पैरों के नीचे बीज आदि सचित्त (सजीव) पदार्थ हों तो दिखाई नहीं देते हैं।

देहली नीची हो तो उसके अन्दर एक पैर रखकर आहार दे तो लेना

कल्पता है। क्योंकि देहली लांघकर अर्थात् घर में प्रवेश करके आहार की एषणा करने में भाष्यकार ने अनेक दोष बताए हैं।

३ कालाभिग्रह—जिस प्रदेश में तीन भिक्षाकाल हों वहाँ अन्तिम भिक्षा-काल में प्रतिमाप्रतिपन्न अणगार को आहार की एषणा करनी चाहिए। अथवा द्विपद या चतुष्पद आहार लेकर निवृत्त हो जावें उसके बाद में आहार की एषणा करनी चाहिए।

४ भावाभिग्रह—गर्भिणी या बालवत्सा या स्तनपान कराने वाली के हाथ से या उनके निमित्त बना हुआ आहार न लेने का तात्पर्य यह है कि उन्हें उठने-बैठने में कष्ट न हो और शिशु को स्तनपान में अन्तराय न हो।

पक्षियों को धान्य, गायों को गोग्रास, और सांड़ को रोटी आदि देने की परिपाटी प्राचीन काल से कई जगह प्रचलित है, इसलिए उनकी आहार प्राप्ति में भी अन्तराय न हो,—अतः उन सबके आहार लेकर निवृत्त हो जाने पर प्रतिमाधारी अणगार को आहार की एषणा करनी चाहिए।

पंचविध-व्यवहार निरूपणम्

सूत्र ५

पंचविहे ववहारे पण्णत्ते, तं जहा—
१ आगमे, २ सुए, ३ आणा, ४ धारणा, ५ जीए।
[जहा से तत्थ आगमे सिया, आगमेणं ववहारं पट्ठवेज्जा।
नो से तत्थ आगमे सिया, जहा से तत्थ सुए सिया—
सुएणं ववहारं पट्ठवेज्जा।
नो से तत्थ सुए सिया जहा से तत्थ आणा सिया,
आणाए ववहारं पट्ठवेज्जा।
नो से तत्थ आणा सिया, जहा से तत्थ धारणा सिया,
धारणाए ववहारं पट्ठवेज्जा।
नो से तत्थ धारणा सिया, जहा से तत्थ जीए सिया,
जीएणं ववहारं पट्ठवेज्जा।
एएहिं पंचहिं ववहारेहिं ववहारं पट्ठवेज्जा। तं जहा—
आगमेणं, सुएणं, आणाए, धारणाए, जीएणं।
जहा जहा आगमे, सुए, आणा, धारणा, जीए
तहा तहा ववहारं पट्ठवेज्जा।

से किमाहु भंते ! ?

आगमवलिया समणा निग्गंथा ।

इच्चेयं पंचविहं ववहारं जया जया, जहिं जहिं,

तहा तहा तहिं तहिं

अणिस्सिओवस्सियं ववहारं ववहारेमाणे समणे णिग्गंथे आणाए आराहए भवइ ।][1]

॥ व्यवहार प्रकृतं समाप्तम् ॥

पाँच प्रकार के व्यवहार

व्यवहार पाँच प्रकार का कहा गया है, यथा—

१. आगम-व्यवहार, २. श्रुत-व्यवहार, ३. आज्ञा-व्यवहार, ४. धारणा-व्यवहार, ५. और जीत-व्यवहार ।

(१) उपर्युक्त पांच व्यवहार में से जहाँ आगम-व्यवहार उपलब्ध हो वहाँ आगम से व्यवहार (दोषानुसार प्रायश्चित का निर्णय) करना चाहिए ।

(२) जहाँ आगम से दोष एवं प्रायश्चित्त का निर्णय सम्भव न हो वहाँ श्रुत से व्यवहार करना चाहिए ।

(३) जहाँ श्रुत से दोष एवं प्रायश्चित्त का निर्णय सम्भव न हो वहाँ आज्ञा से व्यवहार करना चाहिए ।

(४) जहाँ आज्ञा से दोष एवं प्रायश्चित्त का निर्णय सम्भव न हो वहाँ धारणा से व्यवहार करना चाहिए ।

(५) जहाँ धारणा से दोष एवं प्रायश्चित्त का निर्णय सम्भव न हो वहाँ जीत से व्यवहार करना चाहिए ।

प्रश्न—हे भगवन् ! आपने ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर—श्रमण निर्ग्रन्थ (दोष एवं प्रायश्चित का निर्णय करने में) आगम को ही प्रमुख आधार मानते हैं ।

"अमुक" के समीप अपने दोषों की आलोचना करने पर वह अन्य प्रायश्चित्त देगा—इस प्रकार की 'निश्रा' (पक्षपात) के बिना इन पाँच व्यवहारों में से जब तक और जहाँ तहाँ व्यवहार करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जिनाज्ञा का आराधक होता है ।

॥ व्यवहार सूत्र समाप्त ॥

भाष्यकार व्यवहार सूत्र का मूल पाठ यहीं तक मानते हैं ।

सूत्र ६ से ४६ तक के सूत्र व्यवहार सूत्र की चूलिका रूप है अर्थात् ये सूत्र अन्य आगमों से उद्धृत एवं संकलित कर परिवर्धित किए गए हैं ।

---

१ कोष्टकान्तर्वर्ति पाठः क्वचिदेव ।

पुरुषप्रकार निरूपणम्

सूत्र ६

चत्तारि पुरिस जाया पण्णत्ता, तं जहा—
१ अट्ठकरे नामं एगे, नो माणकरे.
२ माणकरे नामं एगे, नो अट्ठकरे,
३ एगे अट्ठकरे वि, माणकरे वि,
४ एगे नो अट्ठकरे, नो माणकरे।

सूत्र ६—चार जाति के पुरुष कहे गए हैं। जैसे—
१ कोई परार्थ (परोपकार) करता है, पर मान नहीं करता है।
२ कोई मान करता है पर परार्थ नहीं करता है।
३ कोई परार्थ भी करता है और मान भी करता है।
४ कोई परार्थ भी नहीं करता है, और मान भी नहीं करता है।

सूत्र ७

चत्तारि पुरिस जाया पण्णत्ता, तं जहा—
(१) गणट्ठकरे नामं एगे, नो माणकरे,
(२) माणकरे नामं एगे, नो गणट्ठकरे,
(३) एगे गणट्ठकरे वि, माणकरे वि
(४) एगे नो गणट्ठकरे, नो माणकरे।

सूत्र ७—(पुनः) चार जाति के पुरुष कहे गये हैं। जैसे—
१ कोई गण (समुदाय) का काम करता है, पर मान नहीं करता है।
२ कोई मान करता है, पर गण का काम नहीं करता है।
३ कोई गण का काम भी करता है और मान भी करता है।
४ कोई न गण का काम ही करता है और न मान ही करता है।

सूत्र ८

चत्तारि पुरिस जाया पण्णत्ता, तं जहा—
(१) गणसंगहकरे नामं एगे, नो माणकरे,
(२) माणकरे नामं एगे, नो गणसंगहकरे,
(३) एगे गणसंगहकरे वि, माणकरे वि,
(४) एगे नो गणसंगहकरे, नो माणकरे।

सूत्र ८—(पुनः) चार जाति के पुरुष कहे गये हैं। जैसे—

१ कोई गण के लिए संग्रह करता है, पर मान नहीं करता है।

२ कोई मान करता है, पर गण के लिए संग्रह नहीं करता है।

३ कोई गण के लिए संग्रह भी करता है, और मान भी करता है।

४ कोई न गण के लिए संग्रह ही करता है और न मान ही करता है।

सूत्र ९

चत्तारि पुरिस जाया पण्णत्ता, तं जहा—

(१) गणसोहकरे नामं एगे, नो माणकरे,

(२) माणकरे नामं एगे नो गणसोहकरे,

(३) एगे गणसोहकरे वि, माणकरे वि,

(४) एगे नो गणसोहकरे नो माणकरे।

सूत्र ९—(पुनः) चार जाति के पुरुष कहे गये हैं।

१ कोई गण की शोभा करता है, मान नहीं करता है।

२ कोई मान करता है, पर गण की शोभा नहीं करता है।

३ कोई गण की शोभा भी करता है और मान भी करता है।

४ कोई न गण की शोभा ही करता है और न मान ही करता है।

सूत्र १०

चत्तारि पुरिस जाया पण्णत्ता, तं जहा—

(१) गणसोहिकरे नामं एगे, नो माणकरे,

(२) माणकरे नामं एगे, नो गणसोहिकरे,

(३) एगे गणसोहिकरे वि, माणकरे वि,

(४) एगे नो गणसोहिकरें नो माणकरे।

सूत्र १०—(पुनः) चार जाति के पुरुष कहे गये हैं। जैसे—

१ कोई गण की शुद्धि करता है, पर मान नहीं करता है।

२ कोई मान करता है, पर गण की शुद्धि नहीं करता है।

३ कोई गण की शुद्धि भी करता है और मान भी करता है।

४ कोई न गण की शुद्धि ही करता है और न मान ही करता है।

सूत्र ११

चत्तारि पुरिस जाया पण्णत्ता, तं जहा—

१ रूवं नामेगे जहइ, नो धम्मं,
२ धम्मं नामेगे जहइ, नो रूवं,
३ एगे रूवं वि जहइ, धम्मं वि जहइ
४ एगे नो रूवं जहइ, नो धम्मं जहइ।

सूत्र ११—(पुनः) चार जाति के पुरुष कहे गये हैं। जैसे—
१ कोई रूप (साधुवेश) को छोड़ देता है, पर धर्म को नहीं छोड़ता है।
२ कोई धर्म को छोड़ देता है, पर रूप को नहीं छोड़ता है।
३ कोई रूप को भी छोड़ देता है और धर्म को भी छोड़ देता है।
४ कोई न रूप को ही छोड़ता है और न धर्म को ही छोड़ता है।

सूत्र १२

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—
१ धम्मं नामेगे जहइ, नो गणसंठिइं,
२ गणसंठिइं नामेगे जहइ, नो धम्मं,
३ एगे गणसंठिइं वि जहइ, धम्मं वि जहइ,
४ एगे नो गणसंठिइं जहइ, नो धम्मं जहइ।

सूत्र १२—(पुनः) चार जाति के पुरुष कहे गये हैं। जैसे—
१ कोई धर्म को छोड़ देता है, पर गण की संस्थिति (मर्यादा) नहीं छोड़ता है।
२ कोई गण की मर्यादा को छोड़ देता है, पर धर्म को नहीं छोड़ता है।
३ कोई गण की मर्यादा भी छोड़ देता है और धर्म भी छोड़ देता है।
४ कोई न गण की मर्यादा ही छोड़ता है और न धर्म ही छोड़ता है।

सूत्र १३

चत्तारि पुरिस जाया पण्णत्ता, तं जहा—
(१) पियधम्मे नामेगे, नो दढधम्मे,
(२) दढधम्मे नामेगे, नो पियधम्मे,
(३) एगे पियधम्मे वि, दढधम्मे वि,
(४) एगे नो पियधम्मे, नो दढधम्मे।

सूत्र १३—(पुनः) चार जाति के पुरुष कहे गये हैं। जैसे—
१ कोई प्रियधर्मा है, पर दृढ़धर्मा नहीं है।

२ कोई दृढ़धर्मा है, पर प्रियधर्मी नहीं है।
३ कोई प्रियधर्मा भी है और दृढ़धर्मा भी है।
४ कोई न प्रियधर्मा ही है और न दृढ़धर्मा ही है।

आचार्य-प्रकार निरूपणम्

सूत्र १४

चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, तं जहा—
१ पव्वावणायरिए नामेगे, नो उवट्ठावणायरिए,
२ उवट्ठावणायरिए नामेगे, नो पव्वावणायरिए,
३ एगे पव्वावणायरिए वि, उवट्ठावणायरिए वि,
४ एगे नो पव्वावणायरिए, नो उवट्ठावणायरिए—धम्मायरिए।

सूत्र १४—आचार्य चार प्रकार के कहे गये हैं। जैसे—
१ कोई प्रव्राजनाचार्य होते हैं, पर उपस्थापनाचार्य नहीं होते हैं।
२ कोई उपस्थापनाचार्य होते हैं, पर प्रव्राजनाचार्य नहीं होते हैं।
३ कोई प्रव्राजनाचार्य भी होते हैं और उपस्थापनाचार्य भी होते हैं।
४ कोई न प्रव्राजनाचार्य ही होते हैं और न उपस्थापनाचार्य ही होते हैं।

सूत्र १५

चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, तं जहा—
(१) उद्देसणायरिए नामेगे, नो वायणायरिए,
(२) वायणायरिए नामेगे, नो उद्देसणायरिए,
(३) एगे उद्देसणायरिए वि, वायणायरिए वि,
(४) एगे नो उद्देसणायरिए, नो वायणायरिए;—धम्मायरिए।

सूत्र १५—(पुनः) आचार्य चार प्रकार के कहे गये हैं। जैसे—
१ कोई उद्देशनाचार्य होते हैं, पर वाचनाचार्य नहीं होते हैं।
२ कोई वाचनाचार्य होते हैं, पर उद्देशनाचार्य नहीं होते हैं।
३ कोई उद्देशनाचार्य भी होते हैं और वाचनाचार्य भी होते हैं।
४ कोई न उद्देशनाचार्य ही होते हैं और न वाचनाचार्य ही होते हैं।

विशेषार्थ—जो श्रुत का उपदेश करे वह उद्देशनाचार्य कहलाता है। जो शास्त्र की वाचना देवे-पढ़ावे वह वाचनाचार्य कहलाता है।

शिष्य प्रकार निरूपणम्

सूत्र १६

चत्तारि अंतेवासी पण्णत्ता, तं जहा—

१ पव्वावणंतेवासी नामेगे नो उवट्ठावणंतेवासी,

२ उवट्ठावणतेवासी नामेगे, नो पव्वावणतेवासी

३ एगे पव्वावणतेवासी वि उवट्ठावणंतेवासी वि,

४ एगे नो पव्वावणंतेवासी, नो उवट्ठावणतेवासी,

धम्मंतेवासी।

सूत्र १६—अन्तेवासी (शिष्य) चार प्रकार के कहे गये हैं। जैसे—

१ कोई प्रव्रज्या-अन्तेवासी हैं, पर उपस्थापना-अन्तेवासी नहीं है।

२ कोई उपस्थापना-अन्तेवासी है, पर प्रव्रज्या-अन्तेवासी नहीं है।

३ कोई प्रव्रज्या-अन्तेवासी भी है और उपस्थापना-अन्तेवासी भी है।

४ कोई न प्रव्रज्या-अन्तेवासी ही है और न उपस्थापना-अन्तेवासी ही है।

सूत्र १७

चत्तारि अंतेवासी पण्णत्ता, तं जहा—

(१) उद्देसणंतेवासी नामेगे, नो वायणंतेवासी,

(२) वायणंतेवासी नामेगे, नो उद्देसणतेवासी,

(३) एगे उद्देसणंतेवासी वि, वायणंतेवासी वि,

(४) एगे नो उद्देसणंतेवासी, नो वायणतेवासी।

धम्मंतेवासी।[1]

---

१ अत्र चत्वारि सूत्राण्येवमपि दृश्यन्ते क्वचित्—

(१) चत्तारि धम्मायरिया पण्णत्ता, तं जहा—

१ पव्वावण धम्मायरिए नामेगे, नो उवट्ठावण धम्मायरिए,

२ उवट्ठावण-धम्मायरिए नामेगे, नो पव्वावण-धम्मायरिए,

३ एगे पव्वावण धम्मायरिए वि, उवट्ठावण धम्मायरिए वि

४ एगे नो पव्वावण धम्मायरिए, नो उवट्ठावण-धम्मायरिए।

(२) चत्तारि धम्मायरिया पण्णत्ता, तं जहा—

सूत्र १७—(पुनः) अन्तेवासी चार प्रकार के कहे गये हैं। जैसे—

१ कोई उद्देशन-अन्तेवासी है, पर वाचना-अन्तेवासी नहीं है।

२ कोई वाचना-अन्तेवासी हैं, पर उद्देशन-अन्तेवासी नहीं है।

३ कोई उद्देशन-अन्तेवासी भी है और वचना-अन्तेवासी भी है।

४ कोई न उद्देशन-अन्तेवासी ही है और न वाचना-अन्तेवासी ही है।

स्थविर-भेद निरूपणम्

सूत्र १८

तओ थेरभूमिओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

१ जाइ-थेरे, २ सुय-थेरे ३ परियाय-थेरे।

सट्ठिवास जाए समणे निग्गन्थे जाइ-थेरे।

ठाणसमवायंगधरे[1] सुय-थेरे।

वीसवासपरियाए परियाय-थेरे।[2]

---

१ उद्देसण-धम्मायरिए नामेगे, नो वायण-धम्मायरिए,

२ वायण-धम्मायरिए नामेगे, नो उद्देसण-धम्मायरिए,

३ एगे उद्देसण-धम्मायरिए वि, वायणधम्मायरिए वि,

४ एगे नो उद्देसण-धम्मायरिए, नो वायण-धम्मायरिए।

(३) चत्तारि धम्मन्तेवासी पन्नत्ता, तं जहा—

१ पव्वावण-धम्मन्तेवासी नामेगे, नो उवट्ठावण-धम्मन्तेवासी;

२ उवट्ठावण-धम्मन्तेवासी नामेगे, नो पव्वावण-धम्मन्तेवासी;

३ एगे पव्वावण धम्मन्तेवासी वि, उवट्ठावण-धम्मन्तेवासी वि;

४ एगे नो पव्वावण धम्मन्तेवासी, नो उवट्ठावण धम्मन्तेवासी।

(४) चत्तारि धम्मन्तेवासी पण्णत्ता, तं जहा—

१ उद्देसण-धम्मन्तेवासी नामेगे, नो वायण-धम्मन्तेवासी;

२ वायण-धम्मन्तेवासी नामेगे, नो उद्देसण-धम्मन्तेवासी;

३ एगे उद्देसण-धम्मन्तेवासी वि, वायण-धम्मन्तेवासी वि;

४ एगे नो उद्देसण-धम्मन्तेवासी नो वायण-धम्मन्तेवासी।

—स्थानांग ४।३ सूत्र ३२० से उद्धृत है

१ समवायांग जाव सुयधारए।

२ स्थानांग ३/४ सु० १५ से उद्धृत।

सूत्र १८—तीन स्थविर-भूमियाँ कही गई हैं। जैसे—१ जातिस्थविर, २ श्रुतस्थविर और ३ पर्यायस्थविर।

१ साठ वर्ष की आयु वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ जाति स्थविर हैं।

२ स्थानाङ्ग-समवायाङ्ग-धारक श्रमण निर्ग्रन्थ श्रुत स्थविर है।

३ बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय के धारक पर्याय स्थविर हैं।

शैक्ष प्रकार निरूपणम्

सूत्र १९

तओ सेहभूमिओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

१ सत्त-राइंदिया, २ चाउम्मासिया, ३ छम्मासिया।

छम्मासिया उक्कोसिया।

चाउम्मासिया मज्झमिया।

सत्त-राइंदिया जहन्निया।[1]

सूत्र १९—तीन शिष्यभूमियाँ कही गई हैं। जैसे—

१. सप्तरात्रि-दैवसिक, २ चातुर्मासिक और ३ षाण्मासिक।

इनमें षाण्मासिक शिष्यभूमि उत्कृष्ट है:

चातुर्मासिक शिष्यभूमि मध्यम है।

सप्तरात्रि-दैवसिक शिष्यभूमि जघन्य है।

दीक्षाऽनर्ह निरूपणम्

सूत्र २०

नो कप्पइ निग्गन्थाण वा निग्गन्थीण वा

खुड्डगं वा खुड्डियं वा अणट्ठवासजायं

उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा।

सूत्र २०—निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को आठ वर्ष से कम आयु वाले क्षुल्लक-क्षुल्लिका को उपस्थापना के लिए या मण्डली में भोजन कराने के लिए नहीं कल्पता हैं या नहीं कल्पती है।

सूत्र २१

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा

खुड्डगं वा खुड्डियं वा साइरेगट्ठवासजायं

उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा।

---

१ स्थानांग ३।४ सू० १५९ से उद्धृत है

सूत्र २१—निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को साधिक आठ वर्षवाले क्षुल्लक और क्षुल्लिका को उपस्थापना के लिए या मण्डली में भोजन कराने के लिए कल्पता है।

सूत्र २२

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा अव्वंजणजायस्स
आयारपकप्पे णामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

सूत्र २२—अव्यंजनजात क्षुल्लक या क्षुल्लिका को आचार प्रकल्प नामक अध्ययन का पढ़ाना निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को नहीं कल्पता है।

विशेषार्थ—जिसके उपस्थ के बाल नहीं उगे हैं, उसे अव्यंजनजात कहते हैं।

सूत्र २३

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा वंजणजायस्स
आयारपकप्पे णामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

सूत्र २३—(किन्तु) व्यंजनजात क्षुल्लक या क्षुल्लिका के लिए आचार प्रकल्प नामक अध्ययन का पढ़ाना निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों का कल्पता है।

सूचना—आगे के सभी सूत्रों में व्यंजनजात पद की अनुवृत्ति करनी चाहिए।

दीक्षापर्यायमाश्रित्याऽऽगमाध्यापन-विधानम्[1]

सूत्र २४

तिवास-परियायस्स समणस्स निग्गंथस्स
कप्पइ आयार-पकप्पे नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

सूत्र २४—तीन वर्ष की दीक्षापर्यायवाले व्यंजनजात श्रमण निर्ग्रन्थ को आचार प्रकल्प नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है।

सूत्र २५

चउवास[2]-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स
कप्पइ सूयगडे नामं अंगे उद्दिसित्तए।

---

१. सूत्र २२-२३ निशीथ उ० १९ सूत्र १८ और २० का कल्प विधान है।
२. चउवास परियाए कप्पइ।

सूत्र २५—चार वर्ष की दीक्षापर्यायवाले श्रमण निर्ग्रन्थ को सूत्रकृताङ्ग नामक दूसरा अंग पढ़ाना कल्पता है।

सूत्र २६

पंचवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स
कप्पइ-दसकप्प-ववहारे[1] उद्दिसित्तए।

सूत्र २६—पांच वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाले श्रमण निर्ग्रन्थ को दशा-कल्प-व्यवहार सूत्र पढ़ाना कल्पता है।

सूत्र २७

अट्ठवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स
कप्पइ ठाण-समवाए[2] उद्दिसित्तए।

सूत्र २७—आठ वर्ष की दीक्षापर्यायवाले श्रमण निर्ग्रन्थ को स्थानांग और समयवायांग सूत्र पढ़ाना कल्पता है।

सूत्र २८

दसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स
कप्पइ वियाहे[3] नामं अंगे उद्दिसित्तए।

सूत्र २८—दश वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाले श्रमण निर्ग्रन्थ को व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक अंग पढ़ाना कल्पता है।

सूत्र २९

एक्कारसवास परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स
कप्पइ खुड्डिया विमाण-पविभत्ती,
महल्लिया-विमाण-पविभत्ती,
अंगचूलिया, वग्गचूलिया, वियाहचूलिया नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

सूत्र २९—ग्यारह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण निर्ग्रन्थ को क्षुल्लिका विमान-प्रविभक्ति, महल्लिका विमानप्रविभक्ति, अंगचूलिका, वर्गचूलिका और व्याख्याप्रज्ञप्ति-चूलिका नाम का अध्ययन पढ़ाना कल्पता है।

---

१. ववहारे णाम अज्झयणे।
२. ए णामं अंगे।
३. विवाहे।

सूत्र ३०

बारसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स
कप्पइ अरुणोववाए, गरुलोववाए, वरुणोववाए, धरणोववाए,
वेसमणोववाए. वेलंधरोववाए नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

सूत्र ३०—बारह वर्ष की दीक्षा-पर्यायवाले श्रमण निर्ग्रन्थ को अरुणोपपात गरुड़ोपपात, धरणोपपात, वैश्रमणोपपात, वेलन्धरोपपात, नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है।

सूत्र ३१

तेरसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स
कप्पइ उट्ठाणसुए समुट्ठाणसुए,
देविंदोववाए, नागपरियावणिए नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

सूत्र ३१—तेरह वर्ष की दीक्षा-पर्यायवाले निर्ग्रन्थ को उत्थान-श्रुत समुत्थान, श्रुत, देवेन्द्रोपपात और नागपरियापनिका नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है।

सूत्र ३२

चोद्दसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स
कप्पइ सुमिण-भावणा नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

सूत्र ३२—चौदह वर्ष की दीक्षा-पर्यायवाले श्रमण निर्ग्रन्थ को स्वप्न-भावना नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है।

सूत्र ३३

पन्नरसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स
कप्पइ चारण-भावणा नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

सूत्र ३३—पन्द्रह वर्ष की दीक्षा-पर्यायवाले श्रमण निर्ग्रन्थ को चारण-भावना नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है।

सूत्र ३४

सोलसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स
कप्पइ तेयणिसग्गा नामं[1] अज्झयणे उद्दिसित्तए।

सूत्र ३४—सोलह वर्ष की दीक्षा-पर्यायवाले श्रमण निर्ग्रन्थ को तेजोनिसर्ग नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है।

---

१. जर्मन प्रतौ अत्र "आसीविस-भावणा णामं"।

सूत्र ३५

सत्तरसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स
कप्पइ आसीविसभावणा[1] णामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

सूत्र ३५—सत्तरह वर्ष की दीक्षा-पर्यायवाले श्रमण निर्ग्रन्थ को आसीविष भावना नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है।

सूत्र ३६

अट्ठारसवास परियायस्स समणस्स निग्गंथस्स
कप्पइ दिट्ठिविसभावणा णामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

सूत्र ३६ अठारह वर्ष की दीक्षा-पर्यायवाले श्रमण निर्ग्रन्थ को दृष्टिविष-भावना नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है।

सूत्र ३७

एगूणवीसवास-परियायस्स समणस्स निग्गंथस्स
कप्पइ दिट्ठिवाए नामं अंगे उद्दिसित्तए।

सूत्र ३७—उन्नीस वर्ष की दीक्षा-पर्यायवाले श्रमण निर्ग्रन्थ को दृष्टिवाद-नामक बारहवां अंग पढ़ाना कल्पता है।

सूत्र ३८

वीसवास परियाए समणे णिग्गंथे सव्वसुयाणुवाई भवइ।

सूत्र ३८—बीस वर्ष की दीक्षा- पर्यायवाला श्रमण निर्ग्रन्थ सर्वश्रुतानुवादी हो जाता है।

वैयावृत्य पात्र-विधानम्

सूत्र ३९

दसविहे वेयावच्चे पण्णत्ते,
तंजहा—
१ आयरिय-वेयावच्चे,
२ उवज्झाय-वेयावच्चे,
३ थेर-वेयावच्चे
४ तवस्सि-वेयावच्चे,[2]

---

१. अत्र दिट्ठिविस० इति पाठान्तरम्।
२. क्वचित् थेरान्तरे 'सेह-वेयावच्चे' पठ्यते।

५ सेह-वेयावच्चे,
६ गिलाण-वेयावच्चे,
७ साहम्मिय-वेयावच्चे,
८ कुल-वेयावच्चे,
९ गण-वेयावच्चे,
१० संघ-वेयावच्चे,[1]

सूत्र ३९—वैयावृत्य दश प्रकार का कहा गया है। जैसे—

१ आचार्य-वैयावृत्य
२ उपाध्याय-वैयावृत्य
३ स्थविर-वैयावृत्य
४ तपस्वी-वैयावृत्य
५ शैक्ष-वैयावृत्य
६ ग्लान-वैयावृत्य
७ साधर्मिक-वैयावृत्य
८ कुल-वैयावृत्य
९ गण-वैयावृत्य
१० संघ-वैयावृत्य

वैयावृत्यफल-विधानम्

सूत्र ४०

आयरिय-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे
महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ।

सूत्र ४०—आचार्य की वैयावृत्य करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जर और महापर्यवसान होता है।

विशेषार्थ—प्रति समय अनन्तकर्म परमाणुओं की निर्जरा करने वाले को महानिर्जर कहते हैं और सिद्धपद पाने वाले को महापर्यवसान कहते हैं।

सूत्र ४१

उवज्झाय-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे
महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ।

सूत्र ४१—उपाध्याय की वैयावृत्य करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जर और महापर्यवसान होता है।

सूत्र ४२

थेर-वेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे
महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

---

१. स्थानांग अ० १० सू० १७ यहाँ उद्धृत है।

सूत्र ४२—स्थविर की वैयावृत्य करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जर और महापर्यवसान होता हैं।

सूत्र ४३

तवस्सि-वेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे
महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

सूत्र ४३—तपस्वी की वैयावृत्य करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जर और महापर्यवसान होता है।

सूत्र ४४

सेह-वेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे
महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

सूत्र ४४—शैक्षकी वैयावृत्य करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जर और महापर्यवसान होता है।

सूत्र ४५

गिलाण-वेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे
महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

सूत्र ४५—ग्लान की वैयावृत्य करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जर और महापर्यवसान होता है।

सूत्र ४६

साहम्मिय-वेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे
महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

सूत्र ४६—सार्धमिक की वैयावृत्य करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जर और महापर्यवसान होता है।

सूत्र ४७

कुल-वेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे
महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

सूत्र ४७—कुल की वैयावृत्य करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जर और महापर्यवसान होता है।

सूत्र ४८

गण-वेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे
महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

सूत्र ४८—गण की वैयावृत्य करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जर और महापर्यवसान होता है।

सूत्र ४९

संघ-वेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे
महानिज्जरे, महपज्जवसाणे भवइ।[1]

सूत्र ४९—संघ की वैयावृत्य करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जर और महापर्यवसान होता है।

ऐसा मैं कहता हूं।

दसमो उद्देसओ समत्तो

दसम उद्देसक समाप्त

॥ ववहार-सुत्तं समत्तं ॥

॥ व्यवहार सूत्र समाप्त ॥

---

१. सूत्र ४० से ४९ तक में स्थानांग अ० ५ उ० १, सूत्र ३९७ का परिवर्तित रूप दिया गया है।

परिशिष्ट

कल्प-वर्गीकरण

१—प्रायश्चित्त-कल्प
२—विधि-कल्प
३—निषेध-कल्प
४—विधि-निषेध-कल्प
५—प्रकीर्णक

कल्पवर्गीकरण

इस परिशिष्ट में "ववहार सुत्तं" के सूत्रों का कल्पानुसार वर्गीकरण किया गया है।

१. प्रायश्चित्त-कल्प, २. विधिकल्प, ३. निषेध-कल्प, ४. विधि-निषेध-कल्प और ५. प्रकीर्णक—"ववहार सुत्तं" के ३०५ सूत्र इन तीन वर्गों में विभाजित किये गये हैं—अन्तर्गत विभाजन से विभक्त संख्या ३०८ है।

१—प्रायश्चित-कल्प के सूत्र ३२
२—विधि-कल्प के सूत्र ८७
३—निषेध-कल्प के सूत्र ८१
४—विधि निषेध कल्प के सूत्र ५१
५—प्रकीर्णक के सूत्र ५७

प्रायश्चितकल्प के अतिरिक्त अन्य विधि-कल्पादि के सूत्रों को ४ विभागों में विभाजित किये गये हैं—

(१) निर्ग्रन्थों के विधि-कल्प,
(२) निर्ग्रन्थियों के विधिकल्प,
(३) निर्ग्रन्थ-निर्ग्रथियों के विधिकल्प और
(४) सामान्यविधि-कल्प,
इसी प्रकार निषेध कल्प आदि का समझना चाहिए।

जिन सूत्रों में "कप्पइ" शब्द का प्रयोग है वे विधिकल्प,
जिन सूत्रों में "नो कप्पइ" शब्द का प्रयोग है वे निषेधकल्प,
जिन सूत्रों में "कप्पइ नो कप्पइ" दोनों का प्रयोग है वे विधि-निषेधकल्प के सूत्र हैं।

☆

१. प्रायश्चित्त-विधान

२. विधिकल्प-सूत्र

१--निर्ग्रन्थों के लिए विधिकल्प-सूत्र

क्रम	विषय	उद्देशक	सूत्र	पृष्ठ
१०.	निर्ग्रन्थ व निर्ग्रन्थियों के लिए शय्या संस्तारक विधान	८	११	१२६
११.	,, ,, ,, ,, ,,	८	१२	१२७
१२.	प्रमाणातिरिक्त पात्रादि वहन प्रदान विधि	९	१६	१३०
१३.	सागारिक के यहाँ के कल्प्य-अकल्प्य आहारादि आदेश विधान	९	२	१३२
१४.	साठ वर्ष से अधिक आयु वाले के साथ आहार कल्प	१०	२१	१३६
१५.	व्यंजनजात क्षुल्लक क्षुल्लिकाओं को आचार प्रकल्प पढ़ाने का विधान-कल्प	१०	२३	१७७

४—सामान्य विधिकल्प सूत्र

प्रस्तुत यंत्र में दर्शित विषय निर्ग्रन्थ व निर्ग्रन्थि दोनों के लिये उपयुक्त है, फिर भी यहाँ सामान्य शब्द देने का कारण यह है कि इसमें दर्शाये जाने वाले सूत्रों में बहुधा निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग हुआ है, पर अर्थघटन निग्रन्थियों में भी होता है अतः यहाँ उसे सामान्य शब्द से प्रयुक्त किया गया है—

क्रम	विषय	उद्देशक	सूत्र	पृष्ठ
१.	स्वजन-गृह-गमन विधि	६	३	९७
२.	स्वजन-गृह से आहारादि ग्रहण करने की विधि	६	६	९७
३.	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,	६	८	९८
४.	राजा की मृत्यु के बाद अवग्रहानुज्ञापन विधि	७	२६	१२१
५.	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,	७	२७	१२१
६.	शय्यासंस्तारक ग्रहण विधि	८	२	१२३
७.	,, ,, ,,	८	३	१२३
८.	,, ,, ,,	८	४	१२३
९.	सागारिक के यहाँ से कल्प्य-अकल्प्य आहारादि ग्रहण विधान	९	२	१३२
१०.	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,	९	४	१३३
११.	,, ,, ,, ,, दासादि द्वारा ,, ,, ,,	९	६	१३४
१२.	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,	९	८	१३५
१३.	सागारिक की किराये पर दी हुई चक्रिकाशाला (तेल की दुकान) से वस्तु ग्रहण विधि	९	१८	१३८
१४.	,, ,, ,, ,, (गुड़ की) ,, ,,	९	२०	१३८
१५.	,, ,, ,, वोधियशाला (किराणे ,,) ,, ,,	९	२२	१३९
१६.	,, ,, ,, देसियशाला (कपड़े ,,) ,, ,,	९	२४	१३९

३. निषेधकल्प

१—निर्ग्रन्थों के निषेधकल्प-सूत्र

२. निर्ग्रन्थियों के निषेधकल्प सूत्र

३. निर्ग्रन्थ एवं निर्ग्रन्थियों के निषेधकल्प-सूत्र

४. सामान्य निषेधकल्प सूत्र

कल्प और प्रायश्चित्त सम्मिलित निषेधकल्प सूत्र

४. विधि-निषेधकल्प सूत्र

१. निर्ग्रन्थों के विधि-निषेध कल्प सूत्र

२—निर्ग्रन्थियों के विधि-निषेधकल्प सूत्र

३—निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के विधि-निषेधकल्प सूत्र

क्रमांक	विषय	उद्देशक	सूत्र	पृष्ठ
१.	आलोचना सुनने योग्य के समीप आलोचना करने का विधान	५	१९	९१
२.	वैयावृत्य विधान	५	२०	९२
३.	सम्वन्ध विच्छेद का विधान	७	४	१११
४.	,, ,, ,, ,,	७	५	११२
५.	स्वाध्याय-काल-विधान	७	१८	११६

४—सामान्य विधि-निषेधकल्प सूत्र

क्रमांक	विषय	उद्देशक	सूत्र	पृष्ठ
१.	सर्पदंश- चिकित्सा-विधान	५	२१	९२
२.	स्वजन गृह गमन विधि	६	१	९६
३.	स्वजन गृह से आहारादि लेने की विधि	६	४	९७
४.	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,	६	५	९७
५.	शय्या-संस्तारक ग्रहण विधि	८	१	१२२

५—कल्प और प्रायश्चित्त सम्मिलित विधि-निषेधकल्पसूत्र

क्रमांक	विषय	उद्देशक	सूत्र	पृष्ठ
१.	पारिहारिक और अपारिहारिक भिक्षुओं का पारस्परिक व्यवहार	१	१९	१६
२.	प्रायश्चित्त काल में वैयावृत्य हेतु विहार	१	२१	१८
३.	,, ,, ,, ,, ,, ,,	१	२२	१९

५—प्रकीर्णक

१ —त्रिभंगी (तीन प्रकार)

२—चतुर्भंगी (चार प्रकार)

३—पाँच प्रकार

क्रमांक	विषय	उद्देशक	सूत्र	पृष्ठ
१.	व्यवहार के प्रकार	१०	५	१६८

४—अतिशेष

क्रमांक	विषय	उद्देशक	सूत्र	पृष्ठ
१.	आचार्य और उपाध्याय के अतिशेष	६	१०	९८
२.	गणावच्छेदक के अतिशेष	६	११	१०१

५—उपकरण

क्रमांक	विषय	उद्देशक	सूत्र	पृष्ठ
१.	पतित या विस्मृत उपकरण	८	१३	१२७
२.	,, ,, ,, ,,	८	१४	१२८
३.	,, ,, ,, ,,	८	१५	१२९

६—आहार-प्रमाण

क्रमांक	विषय	उद्देशक	सूत्र	पृष्ठ
१.	अवमौदर्य और आहार का प्रमाण	८	१७	१३०
२.	दत्ति-परिमाण	९	४३	१५३
३.	,, ,,	९	४४	१५४
४.	आहार अभिग्रह	९	४५	१५६
५.	अवग्रह भेद विधान	९	४६	१५७

७—प्रतिमा प्रकरण

क्रमांक	विषय	उद्देशक	सूत्र	पृष्ठ
१.	सप्तसप्तमिका भिक्षुप्रतिमा	९	३७	१४३
२.	अष्टअष्टमिका ,,	९	३८	१४४
३.	नवनवमिका ,,	९	३९	१४५
४.	दशदशमिका ,,	९	४०	१४७
५.	मोक प्रतिमा ,,	९	४१	१४९
६.	,, ,,	९	४२	१५०
७.	यवमध्यचन्द्र प्रतिमा	१०	१	१५९
८.	,, ,,	१०	२	१६१
९.	वज्रमध्य चन्द्रप्रतिमा	१०	१	१५९
१०.	,, ,,	१०	३	१६४
११.	,, ,,	१०	४	१६५

८. दश प्रकार

क्रमांक	विषय	उद्देशक	सूत्र	पृष्ठ
१.	वैयावृत्य के प्रकार	१०	३९	१८४

वैयावृत्य का फल विधान

क्रमांक	विषय	उद्देशक	सूत्र	
१.	आचार्य की वैयावृत्य करने वाला निर्ग्रन्थ महानिर्जर और महापर्यवसान होता है	१०	४०	१
२.	उपाध्याय की ,, ,, ,, ,, ,,	१०	४१	१
३.	स्थविर की ,, ,, ,, ,, ,,	१०	४२	१
४.	तपस्वी की ,, ,, ,, ,, ,,	१०	४३	१
५.	शैक्षक की ,, ,, ,, ,, ,,	१०	४४	१
६.	ग्लान की ,, ,, ,, ,, ,,	१०	४५	१
७.	साधर्मिक की ,, ,, ,, ,, ,,	१०	४६	१
८.	कुल की ,, ,, ,, ,, ,,	१०	४७	१
९.	गण की ,,	१०	४८	१
१०.	संघ की ,,	१०	४९	१